Chapter-5

अध्याय: पांच

:: सामाजिक एवं राजनीतिक या वैचारिक संघर्ष के

परिप्रेक्ष्य में ....

:: अध्याय : पाँच ::

:सामाजिक एवं राजनीतिक या वैचारिक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में प्रेमचन्दजी

का

कथा - साहित्य :

सामाजिक , राजनीतिक , दार्शनिक या सैद्धान्तिक संघर्ष मूलरूपेण वैचारिक ही होता है ; क्योंकि जब तक एक वैचारिक मानसिकता तैयार नहीं होगी , उक्त किसी भी प्रकार के संघर्ष की पृष्ठभूमि निर्मित नहीं होती । उदाहरण के तौर पर नारी-शिक्षा की बात को लें , जब तक प्रबुद्ध लेखक के मानस में नारी-शिक्षा की उपादेयता सिद्ध नहीं हो जायेगी , तब तक नारी-शिक्षा विषयक उसके लेखन-चिंतन में वह धार

नहीं आ पायेंगी । इस प्रकार सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष प्रत्यक्ष एवं वैचारिक दोनों प्रकार के होते हैं । प्रेमचन्दपूर्वकाल के लेखकों में मेहता लज्जाराम शर्मा तथा पं. किशोरीलाल गोस्वामी जैसे लेखक नारी-शिक्षा को एक बुराई मानते थे , अतः उनके उपन्यासों में उन्होंने नारी-शिक्षा के विरोध में निरूपण किया है । दूसरी ओर उसी काल में पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी , मन्नन द्विवेदी आदि लेखक नारी-शिक्षा को बहुत आवश्यक समझते थे , अतः उनके उपन्यासों में उन्होंने नारी-शिक्षा को एक अहम मुद्दा बनाया है ।

:सामाजिक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में :

सामाजिक रीति-रिवाजों एवं परंपराओं का निर्माण धीरे-धीरे होता है । किसी बात को समाज में जड़ जमाने में बरसों बीत जाते हैं । अतः उन प्रचलित परंपराओं के विरु× विरुद्ध जब कोई बात करता है , तब सबसे पहले उसे समाज का प्रतिरोध करना पड़ता है । समाज से संघर्ष करना पड़ता है , लड़ना पड़ता है । आज विदेश-यात्रा एक आम बात है , बल्कि लोगबाग उस पर गौरव का अनुभव करते हैं और विदेश जाने वाले तथा विदेश से आने वाले दोनों के फोटो भी अखबार में छपते हुए पाये जाते हैं । परन्तु किसी जमाने में विदेश-यात्रा को पाप माना जाता था और समुद्र लांघनेवाले को जाति से ब× बहिष्कृत किया जाता था । सुप्रसिद्ध रवीन्द्रनाथ टैगोर के दादा का किस्सा इस बात को लेकर मशहूर है । अभिप्राय यह कि समाज में रीति-रिवाज और परंपराओं के निर्माण में भी समय लगता है और बाद में उनके उच्छेदन में उससे भी ज्यादा समय लगता है । दोनों स्थितियों में समाजसुधारकों को समाज के साथ संघर्ष में आना पड़ता है । एक बात और है । कई बार कुछ प्रथाओं , परंपराओं या रि× रिवाजों की सृष्टि समाज की किसी जरूरत की पूर्ति के लिए होती है । बाद में उन आवश्यकताओं के न रहने पर उन प्रथाओं को भी हट जाना चाहिए , परंतु आमतौर पर

यह देखा गया है कि एक बार समाज में जो प्रथा घर कर जाती है, उसे हटाना लोहे के चने चबाना जितना कठिन होता है । गुजरात के गांवों में शादी-ब्याह में "वरध भरना" नामक एक विधि है, जिसमें औरतें गीत गाती हुईं कुएं या सरोवर या नल के पास जाती हैं और वहां से अपने घड़ों में पानी भरकर लाती हैं । इसमें कई औरतें शामिल होती हैं । उनमें एक स्त्री ऐसी होती है जो उस परिवार की नववधू होती है । पानी भरकर आते समय उसके चारों ओर उस परिवार के युवक तलवारें लेकर खड़े हो जाते हैं । किसी जमाने में मुसलमानी शासन में नववधुओं के अपहरण हो जाते थे, अतः ऐसी प्रथा ने जन्म लिया था । परंतु अब जमाने के बदल जाने पर भी वह रिवाज अपने उसी रूप में मौजूद है । उसी प्रकार उच्च-समाज में कभी विधवा-विवाह धर्म-सम्मत था, परंतु सामाजिक परिस्थितियों में बदलाव आने के कारण स्त्रियों पर के बंधन कड़े होते गये, उनमें विधवा-विवाह को भी अधर्म और पाप समझा गया । अतः पुनरुत्थान काल के समाज-सुधारकों को इसके लिए पुनः लड़ना पड़ा । ऐसा ही सती-प्रथा के विषय में भी है । रामायण-काल में सती-प्रथा होती तो दशरथ की मृत्यु के उपरांत उनकी सभी रानियां सती हो जातीं, परंतु ऐसा नहीं हुआ, क्योंकि उस समय सती-प्रथा का अस्तित्व ही नहीं था । वस्तुतः बाह्य के विदेशी आक्रमणकारियों के हाथों में अपनी स्त्रियां न पड़े उस उद्देश्य से ही यह रिवाज अस्तित्व में आया था ।

यहां पर एक और बात पर भी विचार कर लेना आवश्यक है, इनमें से कुछ रिवाज तो ऐसे होते हैं, जो बाद में यदि चलते रहें तब भी उसमें समाज का कोई खास नुकसान नहीं होता, जैसा कि ऊपर "वरध-भरने" का रिवाज बताया है । परंतु विधवा-विवाह का निषेध का सतीप्रथा जैसे रिवाज तो सामाजिक विकास के xxxxx लिए घातक एवं कुछ वर्गों के प्रति अन्याय करने वाले होते हैं । अतः ऐसे रिवाजों का उन्मूलन होना ही चाहिए और चूंकि लेखक समाज का एक जागरूक प्रहरी होता है, अतः उसका उत्तरदायित्व तो अनेक गुना बढ़ जाता है । इस कार्य में उसका हथियार उसकी लेखनी होती है, अतः वह अपनी

लेखनी का सही-सही इस्तेमाल यहाँ कर सकता है और उसे करना चाहिए। यहाँ सन् 1984 के नोबल पुरस्कार विजेता साहित्यकार चेक कवि जारोस्लाव सेइफर्ट का यह कथन विचारणीय रहेगा — " यदि सामान्य मनुष्य ऐसे समय में (समाज जब मूल्यगत संकटों से गुजर रहा हो) मौन रहता है तो उसमें उसकी कोई योजना हो सकती है, किन्तु ऐसे समय में यदि लेखक मौन रहता है तो वह झूठ बोल रहा है। "[1]

अतः प्रेमचन्द जैसा जागरूक और "कलम का सिपाही" लेखक प्रगतिविरोधी सामाजिक सरोकारों के मुद्दों में खामोश कैसे रह सकता है। इस अध्याय में, इसके उपरोक्त शीर्षक में, हम सामाजिक संघर्ष के कतिपय मुद्दों की एक-एक करके चर्चा करेंगे।

(क) नारी-शिक्षा :

वस्तुतः प्राचीन काल में, वैदिक-काल तथा उत्तर वैदिक काल में, भारत में नारी-शिक्षा पर समुचित ध्यान दिया जाता था। इस समय लड़कियों का उपनयन संस्कार भी होता था और ब्रह्मचर्यावस्था में लड़कों की भाँति उन्हें शिक्षा भी दी जाती थी। इस काल में कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं कि लड़के-लड़कियों की शिक्षा समान रूप से होती थी और सह-शिक्षा को भी बुरा नहीं समझा जाता था।[2]

इस युग में अनेक विदुषी महिलाएँ भी हुईं। ऋग्वेद में ऐसी अनेक ऋषिकाओं के नाम आते हैं जिन्होंने उसके सूक्तों का निर्माण किया है, जिनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं — घोषा, अपाला, जुहू, स्वसा, अदिति, इन्द्राणी, लोपामुद्रा, साधा, मेधा आदि। डा॰ उमा देशपाण्डे के अनुसार स्त्री और पुरुष को वैदिक काल में शिक्षा के समान अवसर थे और प्रायः उनके पाठ्यक्रम भी समान-समान थे। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों को भी वेद पढ़ने का अधिकार प्राप्त था। उन्हें ब्राह्मण-ग्रंथ, उपनिषद् तथा वेदांग पढ़ने का भी अधिकार था।[3]

डा. ए.एस. अल्तेकर के मतानुसार आर्य-गृह में अनार्य स्त्री के प्रवेश से स्त्रियों की सामान्य स्थिति में अवनति का प्रारंभ हुआ । यह अवनति ईसा पूर्व 1000 से शुरू होकर ईसा पूर्व 500 तक शनैः शनैः बढ़ती गई । प्रारंभ में उसका स्वरूप अति सूक्ष्म था , परंतु धीरे -धीरे वह स्पष्ट होती गई ।[4] मनुस्मृति में सर्वप्रथम स्त्रियों की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाया गया । उन्हें वेद-पाठ तथा यज्ञ-याज्ञ से रोक दिया गया । साथ ही कई धार्मिक एवं सामाजिक अधिकारों से भी उन्हें वंचित किया गया । इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी स्थिति खराब होती गई ।[5]

बाद में धर्मशास्त्रों के युग में तथा मध्यकाल में मुसलमानी आक्रमणों के समय स्त्रियों की स्थिति में और भी गिरावट आयी । एक बात और है , अगर स्त्रियों की शिक्षा तथा उनके विदुषी होने की जो बात है , वह उच्चवर्ग तक सीमित रही होगी । अतः अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में जो सामाजिक सुधारों की लहर उठी उसके कारण स्त्री-शिक्षा का मुद्दा पुनः उभरकर सामने आया । अतः प्रेमचन्दजी के लेखन में भी हम इसे रेखांकित कर सकते हैं ।

"निर्मला" तथा "सेवासदन" उपन्यास में क्रमशः निर्मला तथा सुमन की जो दयनीय परिस्थिति हम देखते हैं , उसके पीछे उनका अधिक शिक्षित न होना भी एक कारण है । पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी की भाग्य-वती जो कदम उठाती है,, वैसा कदम भी ये नहीं उठा पाती हैं । प्रत्यक्षतः यहां समस्या दहेज और आर्थिक है , परंतु यदि गौर से देखा जाय तो समस्या नारी-अशिक्षा की भी है । "वरदान" की विरजन का विवाह भी एक कुपात्र से होता है , परंतु उसकी मृत्यु के उपरांत वह स्वयं को लिखने-पढ़ने में लगा देती है और समाज में एक अच्छी कवयित्री के रूप में सम्मानित होती है ।

यहाँ नारी-शिक्षा का अर्थ केवल साक्षरता नहीं है । उपार्जन की शिक्षा को भी शिक्षा के अन्तर्गत ही रखा जाना चाहिए । "गोदान" की धनिया एक तेज़-तर्रार औरत है , किसीसे दबती नहीं है , कारण

आर्थिक-उपार्जन के कार्य में वह होरी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करती है । उसी प्रकार "सुभागी" कहानी की सुभागी खेतीबाड़ी तथा घर के कामों में दक्ष होने के कारण, बेटी होते हुए भी तुलसी महतो के लिए बेटा सिद्ध होती है । उनका अंतिम संस्कार भी वही करवाती है और माँ-बाप के क्रियाखर्च में जो ऋण हो जाता है, उसे भी वही चुकाती है । उसके इन गुणों से मोहित होकर ही सजनसिंह उसे अपने घर की बहू बनाते हैं, जबकि वह विधवा है ।

"कुसुम" कहानी की कुसुम प्रारंभ में तो बड़ी सिधड़ टाईप की लगती है और पति के द्वारा निरंतर अपमानित होते हुए, उसके एक भी पत्र का उत्तर न पाते हुए भी जो निरंतर पत्र लिखती रहती है, एक सामान्य-सी स्त्री प्रतीत होती है । परंतु जब उसे ज्ञात होता है कि उसके पति की नाराजगी के पीछे दहेज में तगड़ी रकम का न मिलना है और अब उसके पिता अपने दामाद को खुश करने के लिए उन्हें विलायत भेजने का पूरा खर्च उठाने को तैयार है, तब उसकी आत्मा तेजोदीप्त हो जाती है और वह अपने माता-पिता को साफ इन्कार कर देती है, बल्कि मर जाने की धमकी देती है, यदि उन्होंने उसके पति को एक राखी पाई भी दी । यह नारी-अस्मिता नारी-शिक्षा का परिणाम है । कुसुम शिक्षित है, अतः उसे विश्वास है कि वह आर्थिक-दृष्टया आत्मनिर्भर रह सकती है ।[6]

प्रेमचन्दजी के अन्य उपन्यासों में मालती, इन्दु, रानी जाह्नवी, सुखदा आदि नारी पात्रों में जो स्वतंत्र व्यक्तित्व की झलक मिलती है, उसके पीछे भी नारी-शिक्षा कारणभूत है । प्रेमचन्दजी यह दिखाना चाहते हैं कि अन्य नारियों की तुलना में एक पढ़ी-लिखी और सुशिक्षित नारी कहाँ अलग पड़ती है । परंतु यहाँ इस बात को गौरतलब किया जाना चाहिए कि प्रेमचन्दजी की नारी-चेतना पश्चिम का अंधानुकरण करने की कदापि नहीं रही । अतः "गोदान" की मालती की प्रारंभ में कटु आलोचना वे करते हैं । बाद में वह रूप-तितली

के स्थान पर समाज-सेवा के कार्य को अपनाती है, तब डा. मेहता जो एक प्रकार से प्रेमचन्द के स्पोक-मैन हैं, उसे प्रेम करने लगते हैं । उसी प्रकार सोफिया भी एक शिक्षित नारी है ।

(च) दहेज समस्या :

हमारे समाज-जीवन में दहेज की समस्या एक कलंक के समान है, [illegible] के समान है । प्रथा की उत्पत्ति या शरीर की आवश्यकता स्त्री-पुरुष दोनों को रहती है । बल्कि पुरुष को ही अधिक रहती है । फिर यह दहेज, नियम या फिर क्यों ? वस्तुतः यह नारी जाति का अपमान है । जब बेटी की शादी होती है, गरीब से गरीब माँबाप भी उसे कुछ-न-कुछ देकर बिदा करते हैं । परन्तु यह पहले ऐच्छिक था, अब यह अनिवार्य हो गया है । यह समस्या प्रेमचन्द के समय भी थी, अब भी है, बल्कि अब और भी बढ़ गई है । अब उसमें अत्याचार और अमानुषिकता के साथ और भी बढ़ गए हैं और दहेज-हत्याएं दिन-ब-दिन बढ़ रही हैं । समाज के निम्न तबके में यह दूषण नहीं था, परंतु यह एक चिन्त्य विषय है कि यहाँ भी अब शिक्षित एवं संपन्न तबके में दहेज की माँग उठ रही है । डा० रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं कि दहेज का रिवाज वैदिक युग में था, किन्तु दहेज अक्सर वरपक्ष को ही देना पड़ता था ।[7] आज भी कुछ पिछड़ी जातियों में वरपक्ष वालों को ही दहेज देना पड़ता है । मध्यगुजरात की मारू रबारी जाति में वरपक्ष वाले ही दहेज देते हैं । रस्म के हिसाब से तो पुराने समय से 64/- रूपये चले आ रहे हैं, परंतु अब तो ऊपर से काफ़ी रकम देनी पड़ती है । प्रकारान्तर से इसका एक फायदा स्त्रियों के पक्ष में यह है कि दहेज के कारण कोई लड़की अविवाहित नहीं रह सकती, बल्कि कुछ शारीरिक खामी वाली लड़कियाँ भी ब्याह जाती हैं और दूसरे लड़की वालों का हाथ हमेशा ऊपर रहता है ।

हमारे यहाँ सवर्ण समाज या अगड़ी जातियों में यह रिवाज बुरी कदर फैल चुका है कि लड़कियों के माँबाप को इसके कारण बिक

झुकना पड़ता है । प्रेमचन्दजी इस मामले में थोड़े नसीबदार निकले कि उन्हें अपनी बेटी के ब्याह में दहेज नहीं देना पड़ा , क्योंकि उनका दामाद एक आदर्शवादी युवक था और उसने लिख दिया था कि मेरा विवाह जिस घर में हो रहा है उसे मैं कंगाल नहीं बनाना चाहता ।[8] परंतु इसमें जो "कंगाल" शब्द है उससे ध्वनित होता है कि दहेज के लिए माँबाप को कंगाल भी होना पड़ता होगा । श्री अरविंद जैन ने अपनी पुस्तक "औरत होने की सज़ा" में पुरुषों की इस जोहुकमी का बड़ा ही मर्मस्पर्शी बयान किया है —

"मेरे साथ शादी करनी हो तो पांच-दश लाख दहेज , कार , कूलर , कलर-टीवी. , वी.सी.आर. , फर्नीचर , कपड़ा , गहना देना पड़ेगा और साथ में पांच लीटर मिट्टी का तेल , एक स्टोव और माचिस और उम्र भर मेरे हुक्म की गुलामी । बदले में तुम्हें सात साल ठीक-ठाक रखने का ' कानूनी गारंटी कार्ड ' तो मिलेगा , लेकिन समय पर तुम्हें यह कार्ड कोरा ,नकली और अर्थहीन ही लगेगा । मां-बाप के पास यह सब दहेज में देने को नहीं है तो कानपुर की अलका , गुड्डी और मन्नू [9] की तरह पंखे से लटककर आत्महत्या कर लो । ... पूरा दहेज नहीं लाओगी तो मैं नहीं कह सकता कि तुम्हारी जिन्दगी कितने दिन की है ।" [10]

दहेज को हटाने के जितने ही कायदे बन रहे हैं , दहेज उतना ही बढ़ रहा है । प्रेमचन्द का "निर्मला" उपन्यास तो इसी समस्या पर लिखा गया है । विवाह से पूर्व निर्मला के पिता की हत्या हो जाती है । जिस परिवार में यह विवाह तय हुआ था , उन्होंने दहेज की कोई निश्चित रकम तो तय नहीं की थी , परंतु उन्हें बिना मांगे ही बहुत कुछ मिलने की [illegible] आशा थी । परंतु घर के मुख्य स्तंभ के न रहने पर अब उसकी कोई खास संभावना न दिख रही थी । अतः वे विवाह को छोड़ कर देते हैं । [illegible] फलतः निर्मला की माँ कल्याणी को निर्मला का ब्याह मुंशी तोताराम से करना पड़ता

है । यहाँ एक समस्या दूसरी से जुड़ी हुई मिलती है । दहेज के अभाव के कारण अनमेल ब्याह की समस्या सामने आती है और अनमेल ब्याह के कारण और दूसरी समस्याएँ पैदा होती हैं । यदि तोताराम युवान होते और उनमें शारीरिक शक्ति का अभाव न होता तो अपने पुत्र मंसाराम को लेकर उनके मनमें जो शंका-कुशंकाएँ पैदा हुई थीं वे न होतीं ।

इसी प्रकार "सेवासदन" उपन्यास में भी सुमन का ब्याह गजाधर जैसे अधम से होता है, क्योंकि सुमन के दहेज के जुगाड़ में उसके पिता दारोगा कृष्णचन्द्र को रिश्वत लेनी पड़ती है और रिश्वत के मामले में अनुभवहीन होने के कारण वे पकड़े जाते हैं और बाद में उन्हें सजा हो जाती है । रिश्वत के पैसे सुमन की माँ गंगाजली कोर्ट-कचहरी में खर्च कर डालती है । अतः सुमन के ब्याह की समस्या आती है । गंगाजली के एक भाई थे उमानाथ । वे सुमन के लिए योग्य वर की तलाश में लग जाते हैं, परंतु गाँव में कोई लड़का उन्हें पसंद नहीं आता और शहर-वालों की लंबी-चौड़ी बातें सुनकर उसके होश उड़ जाते हैं । बड़े आद-मियों की तो बात ही क्या, दफ्तरों के क्लर्क और मुसद्दी भी हजारों का राग आलापते हैं ।[11] अंत में गजाधरप्रसाद नामक एक दुआह से सुमन का रिश्ता तय होता है । जब सुमन का विवाह हुआ तो गजाधर को देखकर गंगाजली खूब रोई । उसे लगा मानो उसने सुमन को "कुएँ में डाल दिया । "[12]

यहाँ भी सुमन सुंदर थी, सुशील थी, गुणवान थी, शिक्षित थी ; परंतु दहेज के कारण उसकी बुरी गत हुई । यहाँ एक और बात उल्ले-खनीय है कि देवनारायण द्विवेदी नामक प्रेमचन्दकाल के ही एक उपन्यास-कार ने इसी समस्या को लेकर "दहेज" (1938) नामक उपन्यास की रचना की है । बात यह थी कि काशी पुस्तक भण्डार के श्री सूर्यबलीसिंह ने प्रेमचन्दजी से अनुरोध किया था कि वे इस कुप्रथा को लेकर एक उपन्यास की रचना करें, लेकिन उसके बाद प्रेमचन्दजी बीमार पड़े और फिर कभी ठीक न हुए । अतः उनकी मृत्यु के उपरांत यह उपन्यास द्विवेदीजी से लिखवाया गया ।[13]

इसी निबंध में यही प्रमाणित किया है कि दहेज की इस प्रथा के कारण कितने निर्दोष हसरतों वाले युवक-युवतियों की जिन्दगी नरक बन जाती है। गरीब और दरिद्र माँबापों की गुणवती और शीलवती पुत्रियाँ अपात्रों के गले मढ़ दी जाती हैं; दूसरी ओर दहेज की लालच के कारण बहुत-से धनवान-पुत्रों को सुंदर, सुशील, संस्कारी युवतियों से वंचित रह जाना पड़ता है।

(ग) विधवा की स्थिति :

विधवाओं को लेकर भी हमारे समाज में दो प्रकार की स्थितियाँ मिलती हैं। अगड़ी जातियों में अभी कुछ वर्ष पहले तक विधवा-विवाह को अच्छा नहीं समझा जाता था। बाद में धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों के कारण स्थिति कुछ नर्म हुई तो कहा जाने लगा कि "देह-लग्न की विधवा को पुनर्लग्न जितना पुण्य नहीं है, और प्रेमलग्न की विधवा को पुनर्लग्न जितना कोई पाप नहीं है।"[14] बहरहाल अगड़ी जातियों में अभी भी विधवा-विवाह को सम्मान की नजरों से तो नहीं देखा जाता। परंतु पिछड़ी जातियों में विधवा-विवाह सर्वसामान्य है। यहाँ उसे कोई बुरा नहीं मानता। बल्कि लोगबाग लड़की के माँ-बाप को बार बार समझाने आते हैं कि वे उसका दूसरा विवाह जल्दी ही कर दें। प्रेमचन्दजी की "अलग्योझा" तथा "सुभागी" जैसी कहानियों से हम इस प्रवृत्ति को लक्षित कर सकते हैं। "अलग्योझा" कहानी की पन्ना जब विधवा होती है तब उसके चार बच्चे थे, तब भी वह सोचती है —

"वह सुंदर थी, अवस्था अभी कुछ ऐसी ज्यादा न थी। जवानी अपनी पूरी बहार पर थी। क्या वह कोई दूसरा घर नहीं कर सकती? यही न होगा, लोग हँसेंगे। बला से। उसकी बिरादरी में क्या ऐसा होता नहीं? ब्राह्मण, ठाकुर थोड़े ही थी कि नाक कट जायगी। यह तो उन्हीं ऊँची जातों में होता है कि घर में चाहे कुछ भी करो, बाहर पर्दा ढका रहे। वह तो संसार को दिखाकर दूसरा घर कर

सकती है । फिर वह रग्घू की दबैल बनकर क्यों रहे ? " [15]

पन्ना के उक्त कथन में दो-तीन बातें हैं जो गौरतलब हैं । पहली बात तो यह कि इन जातियों में पुनर्विवाह केवल शारीरिक जरूरत के कारण नहीं , आर्थिक कारणों से भी होते हैं । दूसरी बात यह कि तीन-चार बच्चों की मां भी पुनर्विवाह करने की स्थिति में होती है । तीसरी और अहम बात यह कि ऐसी स्त्रियों को उनके लायक विधुर भी मिल जाते हैं । ऊंची जातियों में तो विधुर भी नयी-नवेली दुल्हन से ही विवाह करना चाहते हैं ।

ऊंची जातियों में विधवा-विवाह का निषेध उत्तर वैदिक-काल और पुराणकाल तथा मध्यकाल की देन है । मनुस्मृति में स्त्रियों के कई अधिकारों पर रोक लगा दी गई । उन्हें अनेक धार्मिक-सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया । विधवा-विवाह पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया , इतना ही नहीं उसे एक धार्मिक "टैबूज" से जोड़कर देखा जाने लगा । लड़की के रजस्वला-पूर्व विवाह के विधान से बालिका-विवाह का प्रारंभ हो गया ।[16]

प्रेमचन्द के समय में तो विधवा-विवाह को ऊंची जातियों में हेय दृष्टि से देखा जाता ही था । प्रेमचन्द ने स्वयं जब बाल-विधवा शिवरानीदेवी से विवाह किया तो उन्हें अपने घर-परिवार वालों का खूब विरोध सहना पड़ा था । इन जातियों में विधवा-विवाह को किस दृष्टि से देखा जाता है उसका एक उदाहरण हमें उनकी "धिक्कार" कहानी में मिलता है । "धिक्कार" की मानी अनाथ भी है और विधवा भी । पिता पहले ही मर गये थे । सोलह वर्ष की अवस्था में विवाह हुआ परंतु विवाह के एक ही वर्ष में मां तथा पति दोनों इस संसार से विदा हो गये । उसके बाद उसे चाचा वंशीधर के यहां आश्रय लेना पड़ा । उसे चाचा, चाची , चचेरी बहन ललिता आदि सबकी झिड़कियां खानी पड़ती थीं ; केवल एक चचेरा भाई गोकुल था जिसको उससे सहानुभूति थी । अतः जब इन्द्रनाथ मानी से पुनर्विवाह कर लेता है , तब चाचा-चाची

तो पूरा घर सिर पर उठा लेते हैं , केवल गोकुल मानी को पूरी तरह से साथ-सहयोग देता है । इन्द्रनाथ को नौकरी बम्बई लग जाती है और मानी को वह बम्बई को बुला लेता है । इन्द्रनाथ की मां अपनी बहू को बहुत प्यार करती है , क्योंकि वे लोग नये खयालों के थे । मानी जाते हुए अपने चाचा-चाची को एक पत्र लिखती है । चाचा स्टेशन पर आ धमकते हैं । मानी चरण छूने जाती है , तब वे उसे बुरी तरह से फटकार देते हैं --

"मुझे मत छू , दूर रह , अभागिनी कहीं की । मुंह में कालिख लगाकर मुझे पत्र लिखती है । तुझे मौत नहीं आती । तूने मेरे कुल का सर्वनाश कर दिया । आज तक गोकुल का पता नहीं है । तेरे कारण वह घर से निकला और तू अभी तक मेरी छाती पर मूंग दलने को बैठी है । तेरे लिए क्या गंगा में पानी नहीं है ? मैं तुझे ऐसी कुलटा , ऐसी हरजाई समझता , तो पहले दिन तेरा गला घोंट देता । अब मुझे अपनी भक्ति दिखलाने चली है । तेरी जैसी पापिष्ठाओं का मरना ही अच्छा है ; पृथ्वी का बोझ कम हो जाएगा । " [17]

चाचा के ऐसे धिक्कारभरे शब्दों को सुनकर मानी उस रात चलती ट्रेन से कूदकर आत्महत्या कर लेती है । उसकी सास वंशीधर को धिक्कारती हुए चित्कार कर उठती है -- " कोई मेरी बच्ची को खोज क्यों नहीं लाता ? अभी तो बेचारी की चुंदरी भी नहीं मैली हुई । कैसे-कैसे साधों और अरमानों से भरी पति के पास जा रही थी । कोई उस दुष्ट वंशीधर से जाकर कहता क्यों नहीं -- ले तेरी मनोभिलाषा पूरी हो गई -- जो तू चाहता था , वह पूरा हो गया । क्या अब भी तेरी छाती नहीं जुड़ाती ? " [18]

इस प्रकार प्रस्तुत कहानी में प्रेमचन्दजी के जमाने में विधवा-विवाह का कितना विरोध होता था उसे हम देख सकते हैं । जिस युग में विधवा-विवाह का इतना विरोध हो , उस युग में उसकी वकालत करना समाज से पंगा लेना हो समझा जायगा और प्रेमचन्दजी ने वह पंगा लिया है ।

इस समस्या का एक पहलू यह भी है कि यहां "धिक्कार" कहानी में चाचा-चाची के विरोध के पीछे एक कारण यह भी था कि मानी की निस्सहाय लाचार स्थिति के कारण उन्हें मुफ्त की एक नौकरानी मिल गई थी ।

उच्चवर्गीय हिन्दू परिवारों में विधवा की लाचारदर्जी के कई चित्र हमें प्रेमचन्दजी के कथा-साहित्य में मिलते हैं, क्योंकि प्रेमचन्दजी के अपने परिवार में भी कई विधवाएँ थीं और प्रेमचन्दजी ने अपने आस-पास के समाज में भी ऐसी कई विधवाओं को देखा होगा । घर-परिवार के शुभ और मांगलिक प्रसंगों में लोग उसकी छाया से भी दूर रहना चाहते हैं । "धिक्कार" कहानी में भी मानी जब ललिता (उसकी चचेरी बहन) की शादी के समय मेहमानों के आगे जाती है, तो उसकी चाची उसे बुरी तरह से फटकार देती है । मानी को यह बात कलेजे से लग जाती है, अतः वह आत्महत्या करने के इरादे से ऊपर जाती है, परन्तु. एन वक्त इन्द्रनाथ उसे बचा लेता है । इस घटना से इतना तो सिद्ध हो जाता है कि हिन्दू परिवारों में विधवा के साथ कितना दुर्व्यवहार किया जाता है । "अलग्योझा" की पन्ना बिलकुल ठीक कहती है कि यह तथाकथित ऊंची जातों में विधवा-विवाह को तो हेय समझा जाता है, परंतु उनके घरों में परदे की आड़ में काफी कुछ चलता रहता है । नागार्जुन के उपन्यास "रतिनाथ की चाची" में रतिनाथ का बाप जो उसकी चाची का रिश्ते में जेठ लगता है, उस पर बलात्कार करता है, उस बलात्कार से उसे गर्भ रह जाता है, तब बिरादरी से डर कर वह अपनी मां के पास चली जाती है और वहां जाकर गुप्त रूप से गर्भपात करवा लेती है । उस समय गर्भपात करने वाली चमारिन जो शब्द कहती है वह गौरतलब हैं —

"पर एक बात कहती हूं, माफ करना, बड़ी जातवालों की तुम्हारी यह बिरादरी बड़ी म्लेच्छ, बड़ी निष्ठुर होती है, मालिकाइन ।" [19]

"निर्मला" तथा "सेवासदन" और "वरदान" आदि उपन्यासों में प्रौढ़ वय की विधवाओं की समाज में जो दयनीय स्थिति होती है, उसका सही चित्रण लेखक ने किया है। कल्याणी, गंगाजली तथा सुवामा तीनों की आर्थिक-स्थिति बाद में इतनी खराब हो जाती है कि जिसके कारण उनके परिवार को पारावार मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। गंगाजली का पति मर नहीं जाता, परंतु उसे जेल हो जाती है और वहां से वह विक्षिप्त अवस्था में बाहर आते हैं, अतः एक तरह से उसकी स्थिति भी विधवा जैसी ही है।

संयुक्त हिन्दू परिवारों में विधवाओं की जो दयनीय स्थिति होती है, उसका भी सादृश चितार "बेटोंवाली विधवा" कहानी में हुआ है। पं. अयोध्यानाथ काफी संपत्ति पीछे छोड़कर गए थे। पक्का मकान, दो बगीचे, कई हजार के गहने और बीस हजार नकद। विधवा फूलमती को दुःख तो हुआ, परंतु बेटों का मुंह देखकर उसने संतोष कर लिया। चार बेटे थे। चारों की शादी हो चुकी थी और नौकरी धंधे से लग चुके थे। परंतु पंडितजी का जो क्रियाखर्च हुआ उसमें भी फूलमती को पूछा नहीं गया। " आज चालीस वर्षों से घर के प्रत्येक मामले में फूलमती की बात सर्वमान्य होती थी। उसने सौ कहा तो सौ खर्च हुए, एक कहा तो एक; किसीने मीन-मेष न की। यहां तक कि पं. अयोध्यानाथ भी उसकी इच्छा के विरूद्ध कुछ न करते थे; पर आज उसकी आंखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से उसके हुक्म की उपेक्षा की जा रही है। इसे वह क्योंकर स्वीकार करती? "[20] शनैः शनैः घर का सारा कारोबार बेटों और बहूओं के हाथ में चला जाता है। नकद पर सब कब्जा कर लेते हैं। धोखे से उसके गहने भी छीन लिए जाते हैं। एक मात्र बेटी का विवाह भी वह अपने मन से न कर सकी। दान-दहेज न देना पड़े इस दृष्टि से फूल जैसी कुमुद का विवाह चालीस से कुछ ऊपर के दीनदयाल से कर दिया गया। मर्यादा में भी कुछ हेठे थे, पर रोटी-दाल से खुश थे। बिना किसी ठहराव के विवाह करने पर राजी हो गए। तिथि नियत हुई, बरात

आयी , विवाह हुआ और कुमुद बिदा कर दी गई । फूलमती के दिल पर क्या गुजर रही थी , इसे कौन जान सकता है ; कुमुद के दिल पर क्या गुजर रही थी , इसे कौन जान सकता है ; पर चारों भाई बहुत प्रसन्न थे , मानो उनके हृदय का काँटा निकल गया हो । "[21]

परन्तु यहाँ लेखक ने जो टिप्पणी दी है वह उसके सामाजिक सरोकारों की व्यंजना करनेवाली है — " ऊँचे कुल की कन्या , मुँह कैसे खोलती ? भाग्य में सुख भोगना लिखा होगा , सुख भोगेगी ; दुःख भोगना लिखा होगा , दुःख झेलेगी । हरि-इच्छा बेकसों का अंतिम अवलंब है । घरवालों ने जिससे विवाह कर दिया , उसमें हजार ऐब हों , तो भी वह उसका उपास्य , उसका स्वामी है । प्रतिरोध उसकी कल्पना से परे था । "[22]

जब फूलमती इस अन्याय का विरोध करती है तब बेटा उमानाथ कानून और मनु महाराज का हवाला देते हुए कहता है कि बाप की मृत्यु के बाद जायदाद बेटों की हो जाती है । माँ का हक केवल रोटी-कपड़े तक रह जाता है । उस समय फूलमती के मुँह से जो शब्द लेखक ने कहलवाए हैं , वह मानो समूचे हिन्दू समाज पर एक तमाचा है — " मैंने घर बनवाया , मैंने सम्पत्ति जोड़ी , मैंने तुम्हें जन्म दिया, पाला और आज मैं इस घर में गैर हूँ ? मनु का यही क़ानून है और तुम उस क़ानून पर चलना चाहते हो ? अच्छी बात है । अपना घर-द्वार लो । मुझे तुम्हारी आश्रिता बनकर रहना स्वीकार नहीं । इससे कहीं अच्छा है कि मर जाऊं । वाह रे अंधेर ! मैंने पेड़ लगाया और मैं ही उसकी छांह में खड़ी नहीं हो सकती ; अगर यही क़ानून है तो इसमें आग लग जाए । "[23]

जब हरिविलास शारदाजी ने स्त्री-पुरुष-समानाधिकार को लेकर एक प्रस्ताव रखा था जो बाद में "शारदा बिल" के नाम से प्रसिद्ध हुआ , तब प्रेमचन्दजी ने "जागरण" में एक लेखx लेख के द्वारा उन्हें बधाई देते हुए लिखा था — " मैं आपको दिल से बधाई देता

हूँ । स्त्रियाँ आपकी हमेशा कृतज्ञ रहेंगी । क्योंकि स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर जिस संपत्ति को जोड़ते हैं , पति के मर जाने के बाद उन्हीं के गोद के बच्चे उसमें मुँह छिपाते हैं । यह प्रस्ताव जिस दिन पास होगा , करोड़ों महिलाएँ आपको हृदय से आशीर्वाद देंगी और आपकी सदैव ऋणी रहेंगी । उन्हीं के साथ मैं भी आपका कृतज्ञ हूँ । क्या हिन्दू लॉ में स्त्रियाँ बेकार चीज समझी गई हैं कि जो कूड़ा-करकट की तरह उन्हें निकालकर बाहर किया जाता है ? भगवान जाने , यह कानून क्यों और किसके लिए बना था । मुझे तो आशा है , कोई भी विचारवान् व्यक्ति इस प्रस्ताव पर असहमति न प्रकट करेगा । " [24]

इसी प्रसंग पर शिवरानी देवी से बातचीत करते हुए प्रेमचन्दजी ने कहा था — " अगर माताओं को उन्हीं [बेटों का] का सहारा रहा तो बुरी बात है ना ? तुमको याद होगा , मैंने एक कहानी "बेटोंवाली विधवा" नाम की लिखी थी । वह कल्पित नहीं थी । सच्ची घटना के आधार पर थी । तुम उसे जरा पढ़ना । " [25]

अभिप्राय यह कि प्रेमचन्द ने विधवाओं की स्थिति को लेकर अपने साहित्य में , कहानियों और लेखों के माध्यम से अपने समय के समाज से बराबर टक्कर ली थी और फलतः उन्हें रूढ़िग्रस्त समाज की ओर से कई बार अनेक प्रकार के विरोधों का भी सामना करना पड़ा था ।

[घ] अनमेल विवाह :

अनमेल विवाह भी समाज का एक बहुत बड़ा दूषण है । वस्तुतः यह दूषण भी अन्य आनुषंगिक कारणों से उद्भूत होता है । इसके मूल में भी दहेज प्रथा और अर्थनीति के अभाव काम करते हैं । दहेज के कारण कई बार सुंदर, सुशील व गुणवान लड़कियाँ को अपात्रों के गले मढ़ दी जाती हैं । "सेवासदन" की सुमन तथा "निर्मला" की निर्मला इसके उदाहरण हैं । कई बार परिवार की अत्यंत निर्धनता , इतनी निर्धनता कि वे अपनी बेटी का हाथ भी पीला न कर सके , भी अनमेल ब्याह को

[illegible] होता है । "गोदान" में होरी और धनिया को अपनी प्यारी बेटी रूपा का विवाह रामसेवक नामक एक अधेड़ व्यक्ति से करना पड़ता है । परंतु यहाँ समस्या का एक दूसरा पहलू यह भी है कि रूपा ने अपने शैशव में जिन प्रकार के अभावों को देखा है , उनके रहते वह अपनी इस स्थिति में भी खुश है । जिस अवस्था में उसका बचपन बीता था , उसमें पैसा सबसे कीमती चीज थी । मन में कितनी साधें थीं , जो मन में ही घुट-घुट कर रह गईं थीं । वह उन्हें अब पूरा कर सकती थी । अनाज से भरे हुए बखार और गाँव के सिवान तक फैले हुए खेत और द्वार पर ढोरों की कतारें और किसी प्रकार की अपूर्णता को उसके अन्दर आने ही नहीं देती थी , और उसकी सबसे बड़ी अभिलाषा थी , अपने घरवालों को सुखी देखना ।[26]

डा॰ मन्मथनाथ गुप्त ने इस संदर्भ में जो बात कही है वह ध्यान देने योग्य है — " रूपा का यह न समझ पाना कि एक अधेड़ के साथ उसकी शादी कर उसके साथ अन्याय किया गया है , उसके सुख में कुछ कमी की गई है , यही तो इस ट्रेजडी की सबसे बड़ी बात है , और प्रेमचन्द ने जो इसका इस रूप में चित्रण किया है , इससे उनमें वस्तुवादी कला की विजय ही सूचित होती है । " [27]

प्रेमचन्द हमेशा से चाहते रहे हैं कि अपने यहाँ लड़के-लड़कियों का विवाह उनकी अपनी पसंद से हो और उनके संस्कार , शिक्षा , विचार तथा रुचियों में भी काफी समानता हो । अनमेल विवाह को वे एक प्रकार से अभिशाप समझते थे , क्योंकि वे स्वयं भी इसके शिकार हुए थे , इसे पूर्ववर्ती पृष्ठों में विस्तारपूर्वक बताया गया है ।

यह अनमेल विवाह प्रेमचन्दजी में दो प्रकार से बताए गए हैं — एक तो दहेज के कारण जैसे सुमन और निर्मला के साथ हुआ , और दूसरे जात-पाँत या ऊँच-नीच के झूठे खयालों के कारण जैसे "वरदान" उपन्यास में विरजन और कमलाचरण का विवाह । विरजन की माँ डिप्टी श्यामाचरण का ओहदा और रुतबा देखती है , खानदान देखती है , होनेवाले

दामाद के चरित्र को नहीं । जहां विरजन सुशील , सुंदर , गुणवान , विचारवान और गंभीर है ; वहां कमला एक शोहदा किस्म का चरित्रहीन युवक है । फलतः विरजन को असमय विधवा होना पड़ता है ।

अमर "बेटोंवाली विधवा" नामक जिस कहानी का जिक्र हुआ है , उसमें अनमेल-विवाह का एक नया रूप देखने को मिलता है । यहां संपन्नता भी है , पैसा भी है , सबकुछ है , पर भाइयों की नीयत साफ नहीं है । वे लोग बाप की कमाई में बहन का कोई हिस्सा ही मानने के लिए तैयार नहीं है , और अपनी-अपनी पत्नियों के कहने में आकर बहन का विवाह ऐ अधेड़ उम्र के व्यक्ति से कर कर देते हैं ।

"धिक्कार तथा " सुभागी" जैसी कहानियों की मानी तथा सुभागी के बाल्यावस्था में विधवा होने का जो जिक्र है ; उसके पीछे भी अनमेल-विवाह का कारण हो सकता है ।

दहेज के कारण जो अनमेल-विवाह होते हैं , उसमें लड़की को ही अनमेल-विवाह का भुक्तभोगी होना पड़ता है , ऐसा नहीं है । "निर्मला" उपन्यास में डा. सिनहा मोटी-तगड़ी रकम की लालच में निर्मला को ठुकरा तो देते हैं , परंतु बाद में निर्मला को देखने पर उन्हें बड़ा पछतावा होता है । उनकी पत्नी उतनी सुंदर नहीं थी । अतः निर्मला को पाने के लिए वे रात-दिन जलने लगे । एक दिन मौका पाकर वे निर्मला को कहते हैं --- " नहीं निर्मला , अब आती ही होगी । अभी न जाओ । रोज सुधा की खातिर बैठती हो , आज मेरी खातिर बैठो । बताओ कब तक इस आग में जला करूं ? सत्य कहता हूं निर्मला ... " 28

निर्मला को सारी पृथ्वी घूमती हुई नज़र आ रही थी । वह वहां से भागी । रास्ते में सुधा मिली तो न जाने अपनी बदहवासी में क्या कह गई । घर जाकर सुधा ने सिंहिनी का रूप धारण किया और पति को बहुत भला-बुरा कहा । इस आघात में डा. सिनहा ने आत्म-हत्या कर ली । दहेज के लालच ने दो हंसते-खेलते परिवारों को बरबाद

कर दिया ।

(घ) जातिवाद :

वस्तुवादी चेतना तथा प्रगतिवादी विचारों के कारण प्रेमचन्द हमेशा जातिवाद के खिलाफ़ रहे । जाति के आधार पर ऊँच-नीच की दीवारें उन्हें कतई पसंद नहीं थी । इसलिए प्रेमचन्दजी जाने-अनजाने "मन ही मन अपने समाज का मिलान मुसलिम समाज से करता रहता है और जितना ही वह मिलान करता है उतना ही उसका मन उदासी से, गुस्से से, चिढ़ से भर उठता है क्योंकि मुसलिम समाज में कहीं ज्यादा बराबरी है, भाई-चारा है, आदमी को आदमी समझा जाता है । "[29]

हमारे यहां कदाचित् वैदिक काल में जातिगत कट्टरता नहीं रही होगी, परंतु बाद के युगों में तो जातिवाद भारतीय समाज का एक मुख्य अभिलक्षण हो गया । भारत में जातिप्रथा की व्यापकता को देखते हुए डा. मजूमदार लिखते हैं — " जाति-व्यवस्था भारत में अनुपम है । सामान्यतः भारत जातियों एवं सम्प्रदायों की परंपरात्मक स्थली माना जाता है । ऐसा कहा जाता है कि यहां की हवा में भी जाति घुली हुई है और यहां तक कि मुसलमान तथा ईसाई भी इससे अछूते नहीं बचे हैं । "[30]

इसी तरह डा. सक्सेना का मत है कि जाति हिन्दू सामाजिक संगठन का एक मुख्य आधार रहा है, जिससे हिन्दुओं का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन प्रभावित होता रहा है । हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र का अध्ययन बिना जातिगत विशेषिता के अपूर्ण ही रहता है ।[31]

जाति-प्रथा में विवाह-संबंधी प्रतिबंध मुख्य है । जाति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक जाति अपनी ही जाति अथवा उपजाति में विवाह करती है । जाति या उपजाति से बाहर विवाह करने वाले को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है । "गोदान" का गोबर इसलिए तो गांव से भाग जाता है कि झुनिया से उसने चोरी-छिपे विवाह कर लिया है । गोबर अहीर है, झुनिया अहिर । गांववाले इस विवाह को नहीं

मान्यों और गाँव का समाज होरी पर एकट होकर पंचायत बिठाता है। पंचायत यह तय करती है कि होरी पर सौ रूपये तवान लगा दिया जाय। धनिया इस जुर्माने को अदा करने के लिए तैयार न थी, परंतु होरी समाज और पंचायत से बहुत डरता है, अतः सारा अनाज उठाकर दे देता है। अब होरी सर्वहारा हो गया। मजदूरी के सिवाय उसके सामने अब और कोई रास्ता नहीं रह गया। उस समय वह कहता है — "मजूरी करना कोई पाप नहीं है। मजूर बन जाय तो किसान हो जाता है। किसान बिगड़ जाय तो मजूर हो जाता है। मजूरी करना भाग्य में न होता तो यह सब विपत्त क्यों आती? क्यों गाय मरती? क्यों लड़का नालायक निकल जाता?"[32]

अन्तर्जातीय विवाह करने की यह सजा मिली। इसलिए भारतीय समाज के संदर्भ में वेस्टरमार्क ने अन्तर्विवाह को "द एसेन्स आफ कास्ट सिस्टम" अर्थात् जाति का सार-तत्व माना है।[33] इसी कारण ही निर्मला और सुमन को अनमेल ब्याह का शिकार होना पड़ता है, अन्यथा उन जैसी सुंदर और सुशील कन्याओं को दूसरी जाति के अच्छे वर मिल सकते थे। "रंगभूमि" के विनय और सोफिया का विवाह भी प्रेमचन्द इसीलिए नहीं करा सके। अमरकान्त और सकीना (कर्मभूमि) का प्रेम भी इसी कारण अशारीरिक धरातल तक रह जाता है। "बेटोंवाली विधवा" की कुमुद भी इसी जातिप्रथा की शिकार है, अन्यथा उसे भी अपने योग्य पात्र दूसरी जाति में मिल सकता था।

जन्मजात-सदस्यता भी जातिप्रथा की एक प्रमुख विशेषता है। इस जन्मजात-सदस्यता (Inborn Membership) के कारण एक व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है, मृत्युपर्यन्त उसीमें बना रहता है। शिक्षा, धर्म, व्यवसाय एवं गुणों में वृद्धि करने से जाति परिवर्तित नहीं होती। प्राचीन काल में शम्बूक और आधुनिक काल में डा. आंबेडकर इसके उदाहरण हैं। इसलिए धर्म-परिवर्तन को हिन्दू लोग हिकारत की दृष्टि से देखते हैं। "खून सफेद" कहानी में जादोराय का लड़का साधी ईसाई

प्रेमचन्दजी इस बात में मानते थे कि उच्च मानवीय गुण किसी जाति-विशेष की बपौती नहीं है । अतः कोई व्यक्ति केवल ब्राह्मण जाति में पैदा होने मात्र से उच्च और महान नहीं हो जाता । अतः अनेक कहानियों तथा उपन्यास के कई प्रसंगों में उन्होंने ऐसे ब्राह्मणों की क्रूरता और धूर्तता का पर्दाफाश किया है । "सद्गति" के पंडित घासीराम, "सवा सेर गेहूँ" के विप्र महाराज तथा "गोदान" पंडित दातादीन इसके उदाहरण हैं । इनका सारा धर्म-पुण्य बाहरी आचारों तक सीमित है । देखिए "सद्गति" कहानी के पंडितजी का एक चित्र --

"पंडित घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे । नींद खुलते ही ईशोपासना में लग जाते । मुँह-हाथ धोते आठ बजते, तब असली पूजा शुरू होती, जिसका पहला भाग भंग की तैयारी था । उसके बाद आध घण्टे तक चंदन रगड़ते, फिर आईने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते । चंदन की दो रेखाओं के बीच में लाल रोरी की बिन्दी होती थी । फिर छाती पर, बाँहों पर चंदन की गोल-गोल मुद्रिकाएं बनाते । फिर ठाकुरजी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चंदन लगाते, फूल चढ़ाते, आरती करते, घंटी बजाते । दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भंग छानकर बाहर आते । तब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते । ईशोपासन का तत्काल फल मिल जाता । यही उनकी खेती थी ।" [37]

और यही पंडित घासीराम बेचारे दुखी चमार से इतनी बेगार करवाते हैं कि वह उनके दरवाजे पर ही दम तोड़ देता है । "सवा सेर गेहूँ" के शंकर की भाँति दुखी चमार भी यही मानता है कि ब्राह्मण का पैसा नहीं मार सकते -- "इसीसे तो संसार पंडितों से डरता है । और सबके रूपये मारे जाते हैं, बराह्मन के रूपये भला कोई मार तो ले । घर भर का सत्यानाश हो जाए, पांव गल-गलकर गिरने लगे ।" [38]

प्रेमचन्दजी मनुष्य की जाति को नहीं उसके आचरण को महत्व देते थे । एक तरह से वे भी कबीर की तरह कहते हैं --

"कबिरा" मन निर्मल भया ज्यों गंगा का नीर ।
पाछे पाछे हरि फिरे कहत कबीर कबीर ।। "

"मृतक भोज" कहानी में प्रेमचन्दजी लिखते हैं — " सच्ची सज्जनता भी कौड़ियों और गोटों के ही पास रहती है । बड़ों की दया भी होती है शिकार का दूसरा रूप । " 39 इसी कहानी में कुबेरदास और झाबरमल जैसे व्यक्तियों की नीचता को रेखांकित किया गया है । सेठ रामनाथ की मृत्यु के पीछे जो भोज होता है उसमें बिरादरी के मुखिया सब चट कर जाते हैं । सेठ रामनाथ की विधवा सुशीला बेघर बेसहारा हो जाती है । उसकी मृत्यु के पीछक बिरादरी वाले उसकी लड़की रेवती के पीछे हाथ धोकर पड़ जाते हैं कि वह सेठ झाबरमल से विवाह कर ले । अन्ततः उस बेचारी को भी आत्महत्या करनी पड़ती है । यहाँ पर लेखक ने जात-पात और बिरादरी का आतंक क्या होता है , उसे यथार्थतः चित्रित किया है ।

प्रेमचन्द तो अपने युग के यथार्थ का आलेखन कर रहे थे , परंतु उनकी इस प्रवृत्ति के कारण कुछ ऊँची जाति के लोग उन पर ब्राह्मण-विरोध का आरोप लगाते हैं । तब उसका जवाब देते हुए प्रेमचन्द ने कहा था — "लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं , एक महान पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग , सेवा और सदाचरण से पहुँचता है । हरेक टकेपंथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नहीं कर सकता । " 40

(७) दलित-समस्या :

नारी की भाँति दलित या शूद्र जाति का भी हमारे यहाँ बहुत शोषण हुआ है । प्रेमचन्दजी इस शोषण के खिलाफ़ थे । इस संदर्भ में प्रेमचन्दजी के क्या विचार थे उसका अच्छा जायजा अमृतराय ने अपनी पुस्तक "कलम का सिपाही" में लिया है — " उस तरह के किस्से फिर से लिखकर क्या होगा । ठीक है उनसे दिलबहलाव होता

है , मगर सवाल यह है कि हम आखिर कब तक इसी तरह दिलबहलाव करते रहेंगे । इस तरह तो इतिहास के पन्नों से हमारा नाम ही मिट जायेगा । जरा अपने समाज की हालत भी तो देखो — कैसे मुर्दे की नींद सो रहा है । उसको दिल बहलाने की जरूरत है कि झकझोरकर उसको जगाने की ? न जाने कब से सो रहा है इसी तरह । क्या कयामत तक सोता रहेगा । यह तो मौत है सरासर । अगर कुछ लिखना ही है तो ऐसा कुछ लिखो जिससे यह मौत और गफलत की नींद कुछ टूटे , यह मुर्दनी कुछ दूर हो । कितनी बुरी हालत है हमारे हिन्दू समाज की । आदमी को आदमी नहीं समझा जाता । एक आदमी के छू जाने से दूसरे आदमी की जात चली जाती है । यह क्या जिन्दा कौमों के लक्षण हैं ? .... यह सब इन्हीं बड़े-बड़े तिलकधारी ब्राह्मणों की , पुजारियों , महन्तों , मठाधीशों की कारस्तानी है । कहने को चतुर्वेदी हैं , त्रिवेदी हैं , यह हैं , वह हैं , लेकिन हैं निरे मिट्टी लोंदा पत्थर , एक वेद की भी शक्ल जो उन्होंने देखी हो , बस अपने हलवे मांड से काम , हलुआ-पूरी उड़ाये जाओ , चैन की बंसी बजाये जाओ । भाँग-बूटी छानो , जितनी मन चाहे शराब लुंढाओ , सुंदर-सुंदर रमणियों को लेकर विहार करो , मंदिर के भीतर रंडी-पतुरिया नचाओ — इससे बड़ी भक्ति , धर्म , उपासना और क्या है । पतु-रिया नचाने से भगवान भरस्ट नहीं होते , चमार-पासी उनका दर्शन कर ले तो भगवान भरस्ट हो जाते हैं । वैसे कहने को वह पतितपावन है । महंतजी की तिजोरी में बन्द । " 41

उपर्युक्त शब्दों में प्रेमचन्द का आक्रोश ही बोल रहा है । कोई भी विचारवान, बुद्धि , विवेक रखनेवाला व्यक्ति इस शोषण-नीति का पक्ष-धर नहीं हो सकता । दलितों का शोषण जाति-व्यवस्था के कारण ही हुआ है । इस जाति-व्यवस्था ने कुछेक उच्च जातियों को सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार दिए हैं , जबकि निम्न और अछूत जातियों को उनसे वंचित किया गया है । खास तौर से दक्षिण भारत में अछूत जातियों पर अनेक निर्योग्यताएँ (disabilities) थोपी गयी हैं । मालाबार के

के इलाबाद लोगों को जूते पहनने , छाता लगाने एवं गाय का दूध निकालने की मनाही थी । पेशवाओं के राज्य पूना में महर एवं मंग नामक अछूत जातियों को सायंकाल तीन बजे से प्रातः नौ बजे तक शहर में प्रवेश की इजाजत इसलिए नहीं थी कि उस समय परछाईं के लम्बी होने से और उसके किसी द्विज पर पड़ जाने से उसका धर्म भ्रष्ट हो जाता था । पंजाब में हरिजन शहर में चलते समय लकड़ी के गट्टे बजाता था जिससे कि लोगों को ज्ञात हो जाय कि अछूत आ रहा है और वे मार्ग से दूर हट जायें । उन्हें सड़क पर थूकने की मनाही थी , अतः वे गले में एक बर्तन लगाया करते थे । अछूतों को स्कूल , मंदिर , तालाब , कुओं एवं सार्वजनिक स्थानों एवं बगीचों के उपयोग की मनाही थी ।"[42]

अतः एक वस्तुवादी यथार्थवादी लेखक होने के नाते प्रेमचन्द ने दलितों की स्थिति को लेकर समाज से अपनी लेखनी के द्वारा बराबर टक्कर ली है । "ठाकुर का कुआं" , "सद्गति" , "मन्दिर" , "दूध का दाम" , "लोकमत का सम्मान" , "घासवाली" , "सौभाग्य के कोड़े" , "मंत्र" , "बाबाजी का भोग" आदि कहानियां तथा "कर्मभूमि" , "गोदान" जैसे उपन्यासों में कई प्रसंगों में लेखक ने इस समस्या को उठाया है ।

उक्त कहानियों में चाहे मंदिर-प्रवेश का प्रश्न हो ("मंदिर" कहानी तथा "कर्मभूमि" उपन्यास का एतद्विषयक प्रसंग) , चाहे पीने के पानी की व्यवस्था की समस्या हो (ठाकुर का कुआं) , अथवा पिछड़े वर्गों पर के अत्याचार-उत्पीड़न का चित्रण प्रेमचन्द ने एक बहुत ही यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है । "घासवाली" , "लोकमत का सम्मान", "सौभाग्य के कोड़े" तथा "मंत्र" जैसी कहानियों में इस वर्ग के लोगों के सहज मानवीय गुणों का उद्घाटन करके लेखक ने उनके मानवीय आत्मसम्मान की एक कान्तिमय आधार उठाया है ।

उस समय अस्पृश्यता का भूत लोगों पर कितना सवार था , उसका उदाहरण तो दुखिया चमार के इस कथन में ही मिल जाता

और गंगी कुएँ के जगत से कूदकर भागती है । घर आकर देखती है कि जोखू वही मैला-गंदा पानी पी रहा था ।[46] इसे पीकर वह मर भी सकता है । यह कैसी मानवीय त्रासदी है जहाँ एक मनुष्य को कुएँ से पीने का पानी तक भरने का अधिकार नहीं है ।

"मंदिर" कहानी की दुखिया का बेटा बीमार है । उसके मन में ऐसी श्रद्धा बैठ गई है कि यदि वह उसे ठाकुरजी के मंदिर में ले जाती है तो वह बच जायगा । वह पुजारी की खूब मिन्नतें करती है , पर वह नहीं पसीजता । आखिर एक रूपये की लालच देती है । रूपये की बात पर वह उसे मंदिर में तो नहीं जाने देता , पर एक जंतर देता है कि इसे पहनाने से वह ठीक हो जायगा । परंतु रात में ज्वर और भी बढ़ जाता है । वह साहस बटोरकर आधी रात के समय मंदिर पहुँचती है । ईंट से ताला तोड़ती है और जैसे ही मंदिर में जाने लगती है कि खटखट से पुजारी जाग जाता है और जोर से "चोर" "चोर" चिल्लाता है । क्षण भर में गाँव के लोग इकट्ठे हो जाते हैं । पुजारी कहता है कि मंदिर भ्रष्ट हो गया । सब लोग सुखिया पर टूट पड़ते हैं । लातों और घूंसों से सुखिया बेहाल हो जाती है । अचानक एक बलिष्ठ ठाकुर का हाथ पकड़ने से सुखिया का बच्चा जमीन पर गिरकर मर जाता है । सुखिया भी वहीं अपना सिर पटक-पटक कर प्राण दे देती है । अन्त समय का उसका कथन ध्यातव्य है —

"पापियो , मेरे बच्चे के प्राण लेकर अब दूर क्यों खड़े हो ? मुझे भी क्यों नहीं उसीके साथ मार डालते ? मेरे छू लेने से ठाकुरजी को छूत लग गई । पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है , पारस लोहा नहीं हो सकता । मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जाएँगे । मुझे बनाया , तो छूत नहीं लगी ? लो , अब कभी ठाकुरजी को छूने नहीं आऊँगी । ताले में बन्द रखो , पहरा बैठा दो । हाय ! तुम्हें दया छू भी नहीं गई ! तुम इतने कठोर हो ! बाल-बच्चेवाले होकर भी तुम्हें एक अभागिनी माता पर दया न आई ! तिस पर धरम के ठेकेदार बनते हो ! तुम

सबके सब हत्यारे हो , निपट हत्यारे हो । डरो मत , मैं थाना-पुलिस नहीं जाऊँगी , मेरा न्याय भगवान् करेंगे , अब उन्हीं के दरबार में फरियाद करूँगी । " 47

"गोदान" उपन्यास में हम देखते हैं कि ब्राह्मण एक तरफ तो कुलीनता की डींग मारते हैं और रामनाम की खेती काटते हैं , पर दूसरी तरफ किसी चमारिन के साथ सोने में उनका धर्म भ्रष्ट नहीं होता है । मातादीन और सिलिया वाले प्रसंग में सिलिया की माँ का निम्नलिखित कथन इसी व्यंग्य और अन्तर्विरोध या ढोंग को उजागर करता है ---

"उसके साथ सोओगे , लेकिन उसके हाथ का पानी न पिओगे । तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते , मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं । हमें ब्राह्मण बना दो । हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है । जब यह समरथ नहीं है , तो फिर तुम भी चमार बनो । हमारे साथ खाओ-पिओ , हमारे साथ उठो-बैठो । हमारी इज्जत लेते हो , तो अपना धरम हमें दो । " 48

अभिप्राय यह कि प्रेमचन्दजी भी गांधीजी की तरह अस्पृश्यता को भारतीय समाज तथा हिन्दू-संस्कृति का एक बहुत बड़ा कलंक और दूषण मानते थे और इसलिए आजीवन अपनी लेखनी के द्वारा उन्हें न्याय दिलाने की भरसक कोशिश करते रहे ।

§ज§ हिन्दू-मुस्लिम एकता :

अन्य अनेक धर्म-निरपेक्ष चिन्तकों की भाँति प्रेमचन्द भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के जबरदस्त हिमायती हैं । ×के×× प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों में यह समस्या हमें बराबर मिलती है । यहाँ तक कि "कायाकल्प" जैसे नितान्त वायवी उपन्यास में भी लेखक हिन्दू-मुस्लिम समस्या को लेकर चला है । "सेवासदन" में भी वे इस समस्या को उठाते हैं । जून-1995 के "समय-चेतना" में शानी , नामवरसिंह , काशीनाथसिंह , विश्वनाथ त्रिपाठी आदि लेखकों की एक वार्ता प्रकाशित

हुई थी जिसमें इधर के कथा-साहित्य में गैर-मुस्लिम लेखकों के साहित्य में मुस्लिम पात्रों के अभाव की बात को छेड़ा गया था । यह एक गंभीर एवं ध्यानार्ह मसला है । डा. नामवरसिंह ने इस संदर्भ में कहा था —

"यह एक ऐसा सवाल है जो कठघरे में खड़ा करता है हम सबको । मुझे याद नहीं कि इससे पहले भी यह सवाल मुझसे किसीने पूछा हो । हाँ, स्वयं मैंने ही यह सवाल कभी पूछा था कि क्यों हिन्दी साहित्य से मुस्लिम चरित्र गायब हो गए ? कहीं ऐसा तो नहीं कि हम लोग हिन्दू साम्प्रदायिकता के शिकार हो गए हैं ? "[49]

परंतु उक्त चर्चा में भी प्रेमचन्द और यशपाल के नाम का उल्लेख तो हुआ है, क्योंकि उनके कथा-साहित्य में मुस्लिम-परिवेश की उपस्थिति है ।[50] प्रेमचन्द की सन् 1925 की कहानियों में एक "मंदिर-मस्जिद" है जो आज साठ साल के बाद भी उतनी ताज़ा-सी लगती है, जितनी उस समय थी । प्रेमचन्द मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखना चाहते थे । वे नहीं चाहते थे कि हिन्दुओं तथा मुसलमानों में साम्प्रदायिक ज़हर फैले । आर्य-भाषा सम्मेलन के अवसर पर अपना अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने कहा था — " साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है, वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है । जिस हिन्दू ने कर्बला के मार्के की तारीख पढ़ी है, यह असंभव है कि उसे मुसलमानों से सहानुभूति न हो । उसी तरह जिस मुसल-मान ने रामायण पढ़ी है, उसके दिल में हिन्दू मात्र से हमदर्दी पैदा हो जाना यकीनी है । "[51]

अपने इन विचारों के कारण प्रेमचन्द ने अपने पूरे साहित्य में हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात को सामने रखा है । "सेवासदन", "कर्म-भूमि", "रंगभूमि", "कायाकल्प" आदि उपन्यास तथा "मंदिर-मस्जिद", "पंचपरमेश्वर", "ईदगाह", "शतरंज के खिलाड़ी", "दैरो-हरम" आदि कहानियों में हमें प्रेमचन्द का यह रंग देखने को मिलता है । इस संबंध में वे अमीर खुसरो, कबीर, रहीम आदि की परंपरा में आते हैं । दूसरी

एक और अहम बात यह है कि इस मामले में वे कबीर की तरह हिन्दू-मुस्लिम दोनों को समान रूप से उनकी गलत बातों के लिए फटकारते हैं । "सेवासदन" उपन्यास में हम देखते हैं कि एक तरह हिन्दूसभावादी साम्प्रदायिक ताकतें हैं तो दूसरी तरफ़ कट्टरवादी मुसलमान हैं । प्रेमचन्द इन दोनों की कटु आलोचना करते हैं । एक तरफ हासीम हाजी तथा अबुलवफा जैसे लोग हैं, जो हर बात को मज़हबी रंग दे देते हैं । एक स्थान पर अबुलवफ़ा अपने बिरादरों को भड़काने के उद्देश्य से कहते हैं -- " आलिहाजा, मुझे रात को आफ़ताब का यकीन हो सकता है, पर हिन्दुओं की नेक-नीयती पर यकीन नहीं हो सकता । " [52] परंतु प्रेमचन्द ने तेगअली जैसे लोगों का चित्रण भी किया है, जो अबुलवफ़ा जैसे लोगों को फटकारते हुए कहता है -- " आजकल पोलिटिकल मफाद का ज़ोर है, हक और इन्साफ़ का नाम न लीजिए । अगर आप मुदर्रिस हैं, तो हिन्दू लड़कों को फ़ेल कीजिए । तहसीलदार हैं तो हिन्दुओं पर टेक्स लगाइए, मजि-स्ट्रेट हैं तो हिन्दुओं को सज़ाएं दीजिए । .... तब आप कौम के खादिम, कौम के मुहसिन, कौमी किश्ती के नाखुदा -- सबकुछ हैं । "[53]

ऐसे ही अनेक हिन्दुओं ने उनके "कर्बला" नाटक लिखने पर हाय-तोबा मचाई थी । कई मुसलमान भी थे जिन्होंने उसका विरोध किया था । परंतु इसमें प्रेमचन्दजी ने इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा था कि इसके कारण मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को ठेस न पहुँचे । 19 फरवरी सन् 1924 को दयानारायण निगम को एक पत्र में उन्होंने लिखा था --

"आप यकीन रखें । मैंने एहतराम कहीं नज़रअन्दाज़ नहीं होने दिया है । एक-एक लफ़्ज़ पर इस बात का ख़याल रखा है कि मुसलमानों के मज़हबी एहसासात को सदमा न पहुँचे । इसका मकसद पोलिटिकल है, बाहमी इत्तिहाद को बढ़ाना और कुछ नहीं । "[54]

प्रेमचन्द ने "कायाकल्प" उपन्यास में इस समस्या का सुधारवादी हल पेश किया था, परंतु बाद में उन्हें खुद विश्वास हो गया था कि

इस फसाद की जड़ में साम्राज्यवादी शक्ति और दुर्बुद्धि कार्यरत थी और यह साम्प्रदायिकता कुछ लोगों का विशेषकर पंडितों और मौलवियों का रोजगार बन गई थी । यह बात सामयिक राजनीतिक परिवेश पर भी उतनी ही लागू होती है । तब इन बिल्लियों को अंग्रेज लड़ाते थे , अब राजनीतिक पार्टियों के नेता लड़ाते हैं । इसलिए बारबार कभी "इस्लाम" तो कभी "भारतीय संस्कृति" खतरे में पड़ जाती है । प्रेमचन्द ने अपनी "दैरो-हरम" नामक कहानी में इन पंडितों और मौलवियों की इस जघन्य मनोवृत्ति की भलीभांति कलई खोली है । इस पर कानपुर के एक मुस्लिम अखबार ने बड़ा बावेला मचाया था । दयानारायण निगम ने प्रेमचन्दजी को इस बात की सूचना दी तो उन्होंने अपने पत्र में निगमजी को लिखा —

"इस मज़मून में किसी को शिकायत का क्या मौका है । फिर्का-परस्तों की ज़हनियत (मनोवृत्ति) का पर्दाफाश किया गया है । बिना किसी रू-रियायत के एक तरफ हिन्दू पंडितों और पुजारियों की मज़हब - परवरी का नज्जारा है , दूसरी तरफ मौलवियों की मज़हब-परवरी का । दोनों मज़हब के पर्दे में अपनी-अपनी नफ्स-परवरी (स्वार्थपरता) का शिकार हो रहे हैं । अगर कुछ लोगों को बुरा लगता है तो मेरा क्या अख्तियार है । " 55

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रेमचन्दजी हिन्दू-मुसलमान उभय की साम्प्रदायिक एवं संकीर्ण मनोवृत्ति से चिढ़ते थे । अतः सन् 1920-22 में हिन्दू मुस्लिम एकता स्थापित हुई तो मारे खुशी से वे बाग-बाग हो गये । एक बार तो साम्राज्यवादी ब्रिटीश सरकार भी इस एकता को देखकर कांप उठी । परंतु यह एकता बहुत दिनों तक न टिकी । शुद्धि और तबलीग के आंदोलन शुरू हो गये । इस संबंध में प्रेमचन्दजी ने "जमाना" में एक लेख लिखा , जिसे पढ़कर सारे मुल्क में आग-सी लग गई । मुसलमानों ने इसकी आजाद-खयाली की सराहा तो दूसरी तरफ आर्यसमाजी तबकों में तहलका मच गया । परंतु इससे

यह न समझा जाय कि प्रेमचन्द मुस्लिम-परस्त थे । प्रेमचन्द न मुस्लिम-परस्त थे , न हिन्दू-परस्त । वे तो मनुष्य परस्त थे , न्याय-परस्त थे । अन्यत्र उन्होंने मुसलमानों को भी उनकी गलत बातों और समझ के लिए कोसा है । हिन्दी-उर्दू की बात करते हुए उन्होंने कहा है --

"हिन्दुस्तान के हर एक सूबे में मुसलमानों की थोड़ी-बहुत संख्या तो मौजूद है ही । संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर-प्रदेश) के सिवा और-और सूबों में मुसलमानों ने अपने-अपने सूबे की भाषा को अपना ली है । बंगाल का मुसलमान बंगला बोलता और लिखता है , गुजरात का गुजराती , मैसूर का कन्नड़ी , मद्रास का तमिल , और पंजाब का पंजाबी आदि । यहाँ तक कि उसने अपने-अपने सूबे की लिपि भी ग्रहण कर ली है । उर्दू लिपि और भाषा से यद्यपि उसका धार्मिक और सांस्कृतिक अनुराग हो सकता है , लेकिन नित्यप्रति के जीवन में उसे उर्दू की बिलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती । यदि दूसरे सूबों के मुसलमान अपने-अपने सूबे की भाषा निस्संकोच भाव से सीख सकते हैं और उसे यहाँ तक कि अपनी भी बना सकते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषा में नाम को भी कोई भेद नहीं रह जाता , तो फिर संयुक्त प्रांत और पंजाब के मुसलमान क्यों हिन्दी से इतनी घृणा करते हैं ? "[56]

अभिप्राय यह कि प्रेमचन्द किसी के पक्षधर नहीं है , सिवाय मनुष्यता और न्याय के । तथापि "कुछ धर्मान्ध और अदूरदर्शी मुसलमानों ने खुद प्रेमचन्द पर भी फिरका-परस्त होने का इल्जाम लगाया था । उनकी शिकायत यह थी कि वे अपनी कहानियों में और उपन्यासों में मुसलमान पात्रों को सदा गरीब , अपढ़ और ढोंगी चित्रित करते हैं । "[57] जबकि यह सरासर गलत है । जिसने भी प्रेमचन्द साहित्य को उसकी समग्रता में पढ़ा है , वह जानता है कि यह आरोप नितान्त निराधार है । वस्तुवादी साहित्यकार होने के नाते प्रेमचन्द ने तो केवल यथार्थ का वर्णन किया है , और यह तथ्य कोई भी समझदार मुसलमान स्वीकृत करेगा कि उनमें अपेक्षाकृत अधिक गरीबी है । और जहाँ गरीबी होगी , वहाँ अशिक्षा होगी ,

जहाँ अशिक्षा होगी वहाँ अंधविश्वास और ढोंग भी होगा। वस्तुतः प्रेमचन्द ने हिन्दू और मुसलमान दोनों कौम के अधिकांशतः दरिद्र तबके को विशेष रूप से लिया है। "पंचपरमेश्वर" में बूढ़ी खाला है, तो "बूढ़ी काकी" में बूढ़ी काकी भी तो है। "बूढ़ी काकी" कहानी का बुद्धिराम पक्का प्रवंचक है, तो वहाँ जुम्मन शेख है। बल्कि जुम्मन शेख को तो अंत में सुधरा हुआ बताया है। एक तरफ ताहिरअली है (रंगभूमि), तो दूसरी तरफ होरी, हल्कू (पूस की रात), शंकर (सवा सेर गेहूं) न जाने कितने हैं। और फिर प्रेमचन्द ने हिन्दू पंडों-पुरोहितों को भी तो नहीं बख्शा है। "मोटेराम" शास्त्री के कारण तो उन पर मुकदमा भी चला था। अतः यह कहना सरासर गलत है कि प्रेमचन्द फिरका-परस्त है। यहाँ प्रेमचन्द की दृष्टि बिलकुल साफ है। वे आधुनिक शब्दावली का प्रयोग करें तो धर्म-निरपेक्ष थे। यद्यपि यह शब्द ठीक नहीं है। अंग्रेजी के "सेक्यूलरिज़्म" का सही अनुवाद होगा "बिन-साम्प्रदायिकता", और इस अर्थ में प्रेमचन्द और कबीर एक सरिखे बिन-साम्प्रदायिक हैं।

इस संदर्भ में डा. हंसराज रहबर ने बिलकुल सही कहा है कि "उनके हिन्दू और मुसलमान पात्रों में दोनों अच्छे भी हैं, बुरे भी हैं। दोनों [illegible] भी हैं, धनी भी हैं। क्या "कर्मभूमि" का सलीम और उसके पिता निर्धन और अपढ़ हैं। क्या "सेवासदन" के शराफत-अली और [illegible] भले और नेक नहीं हैं। और फिर "प्रेमाश्रम" में कादिर को तो इतनी श्रद्धा से चित्रित किया है कि प्रेमचन्द के सुधारवादी पात्रों में वह कई बातों में सूरदास से भी महान जान पड़ता है।"[58]

वस्तुतः वे व्यक्तिगत या जातिगत स्वार्थ से बहुत ऊपर उठकर समूचे राष्ट्र और मानवता के हित की बात सोचते थे। समझदार और दूरदर्शी मुसलमानों ने भी उन्हें इसी कारण "फितरत-निगार" और "[illegible] आलम-अदीब" का खिताब दिया है।

अतः इस मसले को लेकर प्रेमचन्दजी की आत्मा भी शायद [illegible] उत्साही साहब की तरह "बेकल" रही होगी —

"तुम हो जिद्दत के पुजारी हम रिवायत के मुरीद ,
बस इसी जिद में बकारे फिक्रोफन जलता रहा ।।
हम कहीं हिन्दू कहीं मुस्लिम बने बैठे रहे ,
धर्म के चौपाल पर सारा वतन जलता रहा ।।" [59]

(घ) धार्मिक भ्रष्टाचार :

यह शीर्षक किसीको विचित्र लग सकता है । भ्रष्टाचार भला धार्मिक कैसे हो सकता है ? परंतु इसे हम छद्म धार्मिकता कह सकते हैं , और जहां धर्म और धार्मिकता छद्म होगी , वहां भ्रष्टाचार को पनपने में देर नहीं लग सकती । "धार्मिक भ्रष्टाचार" से आशय यही है कि धर्म के नाम पर चलनेवाला भ्रष्टाचार । और हमारे देश में धर्म और राजनीति दो ऐसे क्षेत्र हैं जहां भ्रष्टाचार का व्यापार धड़ल्ले से चल सकता है । धार्मिक भ्रष्टाचार के द्वारा सबसे ज्यादा शोषण गरीबों का होता है । यह शोषण त्रिस्तरीय होता है । आर्थिक शोषण तो होता ही है । "सवा सेर गेहूं" के शंकर ने विप्र महाराज से केवल सवा सेर गेहूं लिया था , और खलिहानी के समय उससे दुगुना-तिगुना तो चुका दिया था ; परंतु आठ साल के बाद विप्र महाराज बीज-बैंगा का हिसाब निकालते हैं , जिसे चुकाने में उसकी पूरी जिन्दगी बीत जाती है । विप्र महाराज ब्राह्मण हैं , उन्हें झूठ नहीं बोलना चाहिए , परंतु धर्म के इस ठेकेदार को धर्म से कोई लेना-देना नहीं है । फिर भी शंकर उनका कर्ज चुकाने के लिए इनका बंधुआ नौकर हो जाता है , क्योंकि यह धर्मभीरूता पीछा नहीं छोड़ती कि ब्राह्मण का कर्जा रखकर कहीं ठौर नहीं मिलेगा । "गोदान" का होरी भी दातादीन का पूरा कर्ज चुकाने की बात करता है । यद्यपि गोबर हिसाब से जो होते हैं उससे भी कुछ ज्यादा देने को तैयार होता है , परंतु दातादीन तो दो सौ पर ही अड़ जाते हैं और जाते-जाते धमकी भी दे जाते हैं कि यदि मैं असली ब्राह्मण हूं तो तुम घर आकर मेरे पैसे दे जाओगे । "सेवासदन" का महंत भी गांव के गरीब लोगों का खूब शोषण करता है ।

यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्रेमचन्दजी के पिता मुंशी अजायबलाल एक सीधे-सादे आस्तिक प्रकृति के व्यक्ति थे , परंतु उन्हें भी धर्म के आंतरिक स्वरूप पर आस्था थी , धर्म के बाह्य अनुष्ठानों को वे ढोंग और चोंचले समझते थे । कुछ-कुछ इसी प्रकार की आस्तिकता प्रेमचन्दजी में भी प्रारंभ में पायी जाती है , परंतु जैसे-जैसे उनका मानसिक एवं विचारिक विकास होता गया , उनके धर्म-विषयक विचार भी बदलते गये । जब वे आदर्शवादी न रहे , तो ईश्वरवादी कैसे रह सकते थे । बहर-हाल उनके धार्मिक विचार कुछ भी रहे हों , वे जन-साधारण की धार्मिक भावनाओं की कद्र करते थे , क्योंकि वे जानते थे कि "शोषित जनता के साथ एक धर्म ही तो है जो उसे एक भीषण दरिद्रता में जीने का बल प्रदान करता है । यदि उनसे यह विश्वास भी छिन× छीन लिया जाय तो फिर उसके पास और कौन-सा सहारा रह जाएगा ।" 60 यहाँ पर प्रेमचन्दजी उन लोगों से अलग पड़ते हैं जो नास्तिकता को भी एक धर्म का रूप दे देते हैं । वे बड़ी कट्टरता से अपने विचारों का प्रचार करते हैं और अपनी धुन में , सनक में , दूसरों की भावनाओं का विचार तक नहीं करते । वस्तुतः भाग्यवाद , पुनर्जन्मवाद आदि के विचारों को छीनने के पूर्व उन दरिद्रों को पहले रोटी देनी होगी ; कहीं ऐसा न हो कि हम उन्हें रोटी तो न दे सकें , पर उनके जीने का संबल , जो भी विश्वास या अंधविश्वास हैं , उन्हें छीनकर हम उनको नितान्त निःसहाय बना दें ।

परन्तु तथापि प्रेमचन्दजी ने जहाँ भी अवसर मिला है उन ढोंगियों को बेपर्द किया है जिन्होंने गरीब लोगों की धार्मिक भावनाओं को आध्यात्मिक धर्मों" से अपने उदर-पूर्ति का साधन बना रखा है । मोटेराम शास्त्री , पंडित घासीराम , विप्र महाराज (सवा सेर गेहूं) , दातादीन , महंतजी (सेवासदन) आदि ऐसे ही लोग हैं जिन्होंने धर्म को अपनी स्वार्थ-पूर्ति का साधन बना दिया है । "गोदान" के राय-साहब बड़े धर्मपरायण बनते हैं , परंतु लेखक ने अनेक स्थानों पर उनकी

खिल्ली उड़ाई है और उनका ढोंग और "बगुला-भगतपना" व्यंजित किया है । वस्तुतः प्रेमचन्दजी जिस दौर से गुजर रहे थे , उसके परिप्रेक्ष्य में से धार्मिक भ्रष्टाचार को जितना दिखा सकते थे , दिखाया है । यदि वे जीवित रहते तो हो सकता है , इस मुद्दे को लेकर अलग उपन्यास लिखते जिसमें "मैला आँचल" , "इमरतिया" (नागार्जुन) , "कभी न छोड़ें खेत " (जगदीशचन्द्र) जैसे उपन्यासों की भाँति धर्म के नाम पर पनपने वाले भ्रष्टाचार की परत-दर-परत वे खोलते । तथापि "कर्मभूमि" के गजनवी तथा "गोदान" के मेहता में हमें प्रेमचन्दजी का वह अग्रगामी चिंतन मिलता है ।

:: राजनीतिक संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में ::

वस्तुतः कोई भी विचारवान , जागरूक , क्रान्तद्रष्टा , संवेदनशील साहित्यकार अपने समय की राजनीतिक गतिविधियों से , विशेषकर तब जब देश और समाज और उसका गरीब और सर्वहारा वर्ग मुसीबतों के दौर से गुज़र रहा हो , अराजकता और अंधाधुंधी के दौर से गुज़र रहा हो , अलग नहीं रह सकता । "कला कला के लिए " का समय वह होता है , जब देश संपन्न समृद्ध और स्वतंत्र होता है । गर्दिश के दौर में तो लेखक का उद्देश्य ऐसे लेखन से होना चाहिए जो सामाजिक सरोकार के मुद्दे बन सकते हैं । आपातकालीन स्थिति के समय रेणु , नागार्जुन , भवानीप्रसाद मिश्र , गुजराती के कवि हरीन्द्र दवे जैसे कुछेक साहित्यकार लिख रहे थे ; शेष लोगों ने अपनी लेखनी को म्यान कर दिया था । इनको लेखक नहीं कायर कहना चाहिए ।

नोबेल पुरस्कार विजेता चेक-कवि जारोस्लाव सेइफर्ट ने कभी कहा था --- " यदि सामान्य मनुष्य ऐसे समय में मौन रहता है तो उसमें उसकी कोई योजना हो सकती है , किन्तु ऐसे समय में यदि लेखक मौन रहता है तो वह झूठ बोल रहा है । " [61] यहाँ पर "झूठ बोल रहा है" इस वाक्य-खण्ड पर ध्यान देने की आवश्यकता है । ऐसे समय में लेखक

का मौन रहना भी युद्ध का एक प्रकार ही है । "नरो वा कुंजरो वा" से भी बड़ा युद्ध । अगर कुछ लोगों ने "न लिखने की प्रवृत्ति" को भी गरिमा-मय और स्वयं की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का एक नुस्खा-सा बना लिया है और "अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहैं कौन" का नपुंसक राग अलापना शुरू कर दिया है । अरे, ऐसे समय में तो और भी लिखने की आवश्यकता रहती है । हम लेखक के सामाजिक दायित्व को नकार नहीं सकते । इस संदर्भ में डा. पारुकांत देसाई के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय समझे जायेंगे —

" इस संदर्भ में कुछ कलावादी, रूपवादी या सौन्दर्यवादी लोगों को आपत्ति हो सकती है कि यह सवाल (लेखक का सामाजिक दायित्व) सुविधावादी और साहित्य का है ही नहीं, यह तो साहित्येतर क्षेत्र का सवाल है । वस्तुतः पश्चिम में जो कलावादी आंदोलन उठ खड़े हुए उसके मूल में उनकी कला-विषयक अवधारणा रही है । वे लोग साहित्य या काव्य को कला ही मानते रहे हैं, जबकि हमारे यहां साहित्य को कला से कुछ ऊपर की वस्तु माना गया है । कवि या लेखक को हमारे यहां ऋषि या प्रजापति इसलिए करार दिया गया कि उसे जीवन और जगत के मानवीय सरोकारों से जूझना है । अतः केवल शाश्वत मानवीय प्रश्नों से नहीं, प्रत्युत् सामयिक और युगगत समस्याओं से भी साहित्यकार को जूझना चाहिए । यहां कुछ लोगों को उस समस्या से जुड़ जाने पर अप्रासंगिकता का खतरा मंडराता नजर आता है । तो क्या साहित्यकार अमरत्व के मोह में अपने वर्तमान सामाजिक दायित्व को दर-किनार कर दे ? वह केवल चिरंतन और विशिष्ट का ही परि-चायक बने ? चिरंतन और असाधारण को ही उसने वैशिष्ट्य प्रदान किया तो लेखकीय क्षमता कुशलता और प्राणवंता का क्या ? महाभारत में एक कथा आती है — कुरुक्षेत्र के युद्ध में बभ्रुवाहन भी हिस्सेदारी करना चाहता है । वह अपनी मां से पूछता है कि उसे किसकी तरफ से युद्ध करना चाहिए ? मां ने कहा कि बेटे जो भी हारता हुआ, पराजित होता हुआ दिख पड़े, उसकी तरफ से तू लड़ना । साहित्यकार का भी

यही धर्म होना चाहिए । उसे पराजित शोषित दलित पीड़ित मानवता, दूसरे शब्दों में मानवीय न्याय और विवेक के लिए, अपनी कलम का एक हथियार के रूप में इस्तेमाल करना चाहिए । यही है उसका सामाजिक दायित्व । "[62]

आधुनिक पीढ़ी के सिद्धहस्त लेखक राजेन्द्र यादव ने "हंस" की संपादकीय में एक सवाल उठाया था कि इस समय हमारे पास कितने ऐसे लेखक हैं जिनको उनके लेखन के कारण समाज, धर्म या सत्ता के ठेकेदारों से कोई संघर्ष हुआ हो; जिनको अपने लेखन के कारण कोर्ट-कचहरी जाना पड़ा हो, जिनको अपने लेखन के कारण अपना देश छोड़ना पड़ा हो ?[63] यहाँ यह ध्यातव्य रहे कि प्रेमचन्द को अपने लेखन के कारण कई लोगों से जूझना पड़ा था, जिनका जिक्र पूर्ववर्ती पृष्ठों में हो चुका है ।

सर्वहारावादी कलाकार होने के नाते प्रेमचन्दजी ने साहित्य, समाज और राजनीति के पारस्परिक संबंधों को समझ लिया था । वे इस सत्य को भलीभांति समझने लगे थे कि मनुष्य जब तक रूढ़िगत विचारों के दायरे से बाहर नहीं [illegible] आयेगा, न वह युगसत्य को समझ पायेगा और न ही अच्छा राजनीतिज्ञ या देशसेवक बन पायेगा । जहां उन्नत समाज साहित्य की उन्नति का कारण बनता है, वहां उन्नत साहित्य भी अच्छे समाज एवं अच्छे मनुष्य की रचना करता है । राजनीतिक गतिविधियां जहां साहित्यकार को प्रेरित करती हैं, वहां अच्छा साहित्य भी राजनीति को संचालित करता है ।

यह भी पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्रेमचन्द के जीवन में यह राजनीतिक-संघर्ष भी प्रारंभ से मिलता है । उनके कहानी संग्रह "सोज़ेवतन" को जब्त कर लिया जाता है, क्योंकि उसमें अंग्रेज अधिकारियों को राजद्रोह की बू आती है । महात्मा गांधी के आह्वान पर नौकरी से त्यागपत्र दे देना, अच्छी-खासी सरकारी नौकरी, सत्ता और प्रतिष्ठा (Power and Position) से युक्त, को इस तरह छोड़ देना यह उनकी देशभक्ति का ही प्रमाण है । अलवर नरेश के प्रस्ताव को ठुकराना,

रायबहादुरी के खिताब के प्रस्ताव को ठुकराना, राष्ट्रीय आंदोलन में शिवरानीदेवी का जेल जाना, स्वयं प्रेमचन्दजी का उसके लिए लालायित रहना इत्यादि बातें ~~उनकी~~ उनकी प्रखर राष्ट्रवादिता को प्रमाणित करती हैं। यहाँ पर यह राजनीतिक-संघर्ष उनके साहित्य में किस कदर प्रतिबिंबित हुआ है, उसे व्याख्यायित करने का उपक्रम है।

(क) विदेशी सत्ता के प्रति विद्रोह :

प्रेमचन्दजी ने सन् 1903 से लिखना शुरू किया, परंतु उनका हिन्दी में प्रवेश सन् 1918 से माना जाता है और लगभग यही समय महात्मा गांधी के भारतीय राजनीति में प्रवेश का है। महात्मा गांधी से भी पूर्व प्रेमचन्दजी आर्यसमाज से प्रभावित थे और आर्यसमाज भी अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ था। अतः ~~अ~~ अंग्रेजी सत्ता के प्रति वितृष्णा प्रेमचन्द के अन्तर्मन में प्रारंभ से ही विद्यमान थी। वस्तुतः प्रेमचन्द शोषण-मात्र के विरोधी थे और भारत में अंग्रेजी सत्ता भी एक प्रकार का शोषण था। हमारे देश की संपत्ति और अस्मिता का शोषण। सन् 1909-10 में प्रेमचन्दजी बुंदेलखण्ड के हम्मीरपुर जिले के महोबा नामक स्थान पर सब-डेप्युटी इन्सपेक्टर के पद पर काम कर रहे थे। उन दिनों उनका "सोज़ेवतन" कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ था। इस कहानी संग्रह को लेकर अंग्रेज-सत्ता के वे कोपभाजन हुए। उनके ~~कहानि~~ कहानी-संग्रह को जप्त करके उसकी सारी कॉपियों का जला दिया गया। अंग्रेज कलक्टर ने कहा कि उनकी ये तमाम कहानियाँ राजद्रोह से पूर्ण हैं और अच्छा है कि वे ब्रिटिश-राज्य में हैं, मुगल-राज्य होता तो उनके हाथ काट लिए जाते — "Thank your stars that you live under British empire. Your hands would have been chopped if it were Moghul rule." 64 इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने "नवाबराय" की बंधी-बंधाई प्रतिष्ठा तथा उर्दू को अलविदा करके हिन्दी में लिखना शुरू किया। उनके "सेवासदन", "गबन", "प्रेमाश्रम", "कर्मभूमि", "रंगभूमि", "गोदान", "कायाकल्प", "मंगलसूत्र" आदि उपन्यासों तथा "माँ", "पंचायत", राजा

शतरंज", "प्रेम और त्यागी", "प्रेरणा", "शतरंज के खिलाड़ी", "जुलूस", "जेल" जैसी कहानियों में विदेशी सत्ता के प्रति यह विद्रोह कई रूपों में चित्रित हुआ है।

"कायाकल्प" में प्रेमचन्द ने तत्कालीन राजनीति का चित्र अंकित करते हुए स्थानीय-स्वराज्य की संस्थाओं में किस प्रकार के नेता थे और उनके विचार कितने संकीर्ण थे, यह सब बताया है। "प्रेमाश्रम" को हिन्दी के कई आलोचकों ने हिन्दी का पहला राजनीतिक उपन्यास माना है। इसमें लेखक ने किसान-जमींदार संघर्ष, जमींदारों की अंग्रेज-भक्ति, पढ़े-लिखे लोगों की स्वार्थपरता एवं कायरता आदि के बड़े अच्छे चित्र खींचे हैं। "प्रेमाश्रम" के डिप्टी कलक्टर ज्वालासिंह कहते हैं ––

"खेद तो यह है कि इस रोग से [अंग्रेज-भक्ति] पुराने विचार के बूढ़े ही ग्रस्त नहीं, हमारा नव-शिक्षित वर्ग उनसे कहीं अधिक इस रोग से ग्रसित दीख पड़ता है। मार्ले, मिल और स्पेन्सर सभी इस स्वार्थ-सिद्धान्त के सामने दब जाते हैं। अभी, यहाँ ऐसे-ऐसे भद्र पुरुष पड़े हुए हैं जो [अंग्रेज-अधिकारियों के] खानसामों और अरदलियों की पूजा किया करते हैं, केवल इसलिए कि वे साहब से उनकी प्रशंसा किया करें। जिसे अधिकार मिल गया, वह समझने लगता है अब मैं हाकिम हूँ। अब जनता से देश बंधुओं से मेरा कोई संबंध नहीं है। अंग्रेज अधिकारियों के सम्मुख जाएंगे तो नम्रता, विनय और शील के पुतले बन जायेंगे मानो ईश्वर के दरबार में खड़े हैं। पर जब दौरे पर निकलेंगे तो प्रजा और जमींदारों पर ऐसा रौब जमाएंगे मानो उनके भाग्य के विधाता हैं।" 65

प्रेमचन्दजी हमारे देश के पढ़े-लिखे और बुद्धिजीवी कहे जाने वाले लोगों की मनोवृत्ति से भलीभाँति परिचित थे। उच्च शिक्षा पाकर वे अंग्रेज-अफ़सरों का एक पुर्जा बन जाते थे। उनका चिंतन ही उपनिवेशवादी हो जाता था। वे कई बार अंग्रेज शासकों से भी अधिक जुल्मी एवं शोषण-खोर हो जाते थे। सही कहा गया है ––

"सैंया भये कोटवालजी डर काहे का होय ।
भानु से बालू यहाँ ज्यादा दाहक होय ।।" 66

चाय से केटली ज्यादा गरम होती है । इसीलिए प्रेमचन्द ने एक अन्य स्थान पर लिखा है --- "इसका नतीजा यह है कि आज जनता को अंग्रेजों पर जितना विश्वास है उतना अपने पढ़े-लिखे भाइयों पर नहीं । "67

"राग दरबारी" उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने ऐसे बुद्धिजीवियों का मखौल उड़ाया है । यथा — " जिसका खाते हैं उसीका गाते हैं । और कहलाते क्या हैं ? देखो , देखो , कौन-सा शब्द है — हाँ , हाँ याद आया — कहलाते हैं बुद्धिजीवी । तो हालत यह है कि हैं तो बुद्धिजीवी , पर विलायत का एक चक्कर लगाने के लिए यह साबित करना पड़ जाय कि हम अपने बाप की औलाद नहीं हैं तो साबित कर देंगे । चौराहे पर दस जूते मार लो पर एक बार अमरीका भेज दो । ये हैं बुद्धिजीवी । " 68

डा. मन्मथनाथ गुप्त के उपन्यास "शहीद और शोहदे" में लेखक ने ऐसे आई. सी. एस. अधिकारी बताए हैं कि जो अंग्रेजों की चापलूसी करने के लिए भारतीय क्रांतिकारियों को बहुत ही ज्यादा प्रताड़ित करते हैं । "गबन" उपन्यास में भी स्थानीय पुलिस के अधिकारी कुछ लोगों को फंसाने के लिए उनके सामने झूठा मुकदमा खड़ा करते हैं और उसमें रमानाथ को सरकारी गवाह के रूप में पेश करते हैं । यद्यपि पुलिस ने इलाहाबाद फोन करके पूछ लिया था और उसे मालूम था कि रमानाथ के खिलाफ़ गबन का कोई केस नहीं , तथापि वे लोग उसे फांसते हैं । यहाँ भी अंग्रेज अधिकारियों ने नहीं कहा था कि तुम किसी निर्दोष व्यक्ति को फंसाओ । परंतु खुशामद और चापलूसी के दौर में ऐसा ही होता है ।

मोर्ले मिण्टो द्वारा अनुमोदित स्थानिक-स्वराज्य जब आया तो अंग्रेज चाहते थे कि कौंसिलों और धारासभाओं में ऊंचे तबके के लोग — बड़े-बड़े जमींदार और रायसाहब और दीवानबहादुर ही पहुंचें ,

ताकि हर मामले में उनका समर्थन प्राप्त हो । ~~अतः~~× इसलिए अंग्रेज हर बालिग व्यक्ति को मताधिकार नहीं देना चाहते थे, उसे एक विशिष्ट वर्ग तक महदूद रखना चाहते थे, परंतु उसके लिए तर्क यह देते थे कि हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता अभी अपढ़ और जाहिल है, अतः वह अपने मत के अधिकार का उचित उपयोग नहीं कर सकती । परंतु प्रेमचन्दजी ने आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व जनता के लिए न सिर्फ अपने प्रतिनिधि को चुनकर भेजने का, बल्कि यदि वे ठीक से काम न करें तो उन्हें वापस बुलाने का अधिकार भी अपने "प्रेमाश्रम" उपन्यास के माध्यम से माँगा था । यह उनकी राजनीतिक जागरूकता का परिचायक है । यथा —

"यह बड़ी भूल है कि मेम्बरों को एक निर्दिष्ट काल के लिए रखा जाता है । वोटरों को अधिकार होना ~~चाह~~ चाहिए कि जब किसी सदस्य को जी चुराते देखें तो उसे पदच्युत कर दें ।" [69] इस प्रकार मतदाताओं के द्वारा निर्वाचित सदस्य को पदच्युत का अधिकार (Recall) उस युग को देखते हुए हुए बड़ी ही दीर्घगामी सूझ कहनी चाहिए । आज के बहुत-से अतिविकसित लोकतंत्रों में भी अभी इसे स्थान नहीं दिया गया है ।

"माँ" कहानी की करुणा एक देशभक्त की पत्नी है । उसका पति स्वाधीनता के आंदोलन में महात्मा गाँधी का सिपाही बनकर जेल में गया था । जेल में उसके (आदित्य) साथ बड़ा ही दुर्व्यवहार होता है । फलतः छूटने के बाद उसकी मृत्यु हो जाती है, परंतु करुणा हिम्मत नहीं हारती है । "उसने उन आभूषणों को बेच डाला जो पति के जीवन में प्राणों से प्रिय थे, और उस धन से कुछ गायें और भैंसें मोल ले लीं । वह कृषक की बेटी थी, और गो-पालन उसके लिए कोई नया व्यवसाय न था । इसीको उसने अपनी जीविका का साधन बनाया ।" [70] इस प्रकार बड़ा संघर्ष करके अपने बेटे प्रकाश का पालन-पोषण बड़ा करती है, उसे अच्छी शिक्षा देती है, और सुख न भोगना चाहती है, बल्कि बारबार प्रेरित करती है कि प्रकाश देशसेवा या समाजसेवा के पथ पर अग्रसर हो । परंतु प्रकाश जब प्रशासनिक सेवा में जाने के लिए विदेश की राह को पकड़ता है, तब करुणा उस

आघात को बरदाश्त नहीं कर सकती और अन्ततः उसी मानसिक आघात के कारण ही दम तोड़ देती है । यहां एक बात विचार्य है कि आम तौर पर कोई भी स्त्री नहीं चाहेगी कि उसका पुत्र एक ऐसे मार्ग पर चले जिसमें खतरे ही खतरे हैं , और विशेषकर तब जब उसका पति उस राह पर कुर- बानी दे चुका हो । परंतु कल्मा कुछ दूसरी मिट्टी की बनी हुई थी । वह उन आम स्त्रियों से भिन्न थी । प्रेमचन्दजी ने ऐसे पात्रों का निर्माण किया है , क्योंकि वे चाहते थे कि आज़ादी के उस यज्ञ में स्त्री-पुरुष , छोटे-बड़े सभी अपना-अपना योगदान दें । स्वयं शिवरानी देवी भी महात्माजी के आह्वान पर जेल में गयी थीं ।[71]

"रंगभूमि" की रानी जाह्नवी भी कल्मा की भांति चाहती है कि उसका बेटा विनय देश की स्वाधीनता की लड़ाई में शहीद की मौत मरे । इसलिए वह यह भी नहीं चाहती कि उसका बेटा सोफिया के प्रेम में फंसकर अपने कर्तव्य से मुँह मोड़ ले । विनय की मृत्यु के बाद वह कहती है -- " यह तो मेरी चिर-संचित अभिलाषा थी , बहुत पुरानी , जब मैं कुमारी थी , और वीर राजपूतों तथा राजपूतानियों के आत्मसमर्पण की कथाएं पढ़ा करती थीं । उसी समय से मेरे मन में यह कामना अंकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी ऐसा ही पुत्र देता जो उन्हीं वीरों की भांति मृत्यु से खेलता , जो अपना जीवन देश और जाति के लिए हवन कर देता, जो अपने कुल का मुख उज्ज्वल करता । मेरी वह कामना पूरी हो गईxxx गयी । "[72]

यहां प्रेमचन्द गांधीजी से थोड़े अलग भी पड़ते हैं । स्वाधीनता-संग्राम की लड़ाई में वे जहां सत्याग्रह , असहयोग , अहिंसा आदि की बात करते हैं और ऐसे पात्रों का निर्माण करते हैं , वहां "रंगभूमि" में हम देखते हैं कि उनकी संवेदना और सहानुभूति उन क्रांतिकारी शहीदों के लिए भी कम नहीं थी जो सरदार भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद का अनुसरण कर रहे थे । वीरपालसिंह ऐसा ही एक चरित्र है । उसी प्रकार "गबन" उपन्यास में हम देखते हैं कि देवीदीन , उसकी पत्नी , जालपा आदि सभी क्रांतिकारियों के पक्ष में है । देवीदीन ने तो

महात्मा गांधी के स्वदेशी आंदोलन के पीछे अपने दो-दो जवान बेटों की आहुति दी थी । दोनों विदेशी कपड़े की दूकान पर पिकेटिंग करने गये थे । गोरी फौज ने उन दोनों को डण्डों से इतना मारा कि वे मर गये । तब से देवीदीन ने विदेशी माचिस तक नहीं खरीदी । वह देश के धोखेबाज नेताओं की भी खरी-खरी आलोचना करते हैं --

"गरीबों को लूट कर विलायत का घर भरना तुम्हारा [नेताओं का] काम है । हां रोये जाओ , विलायती शराबें उड़ाओ, विलायती मोटरें दौड़ाओ, विलायती मुरब्बे और अचार चखो , विलायती बर्तनों में खाओ , विलायती दवाइयां पीओ , पर देश के नाम पर रोये जाओ । " 73

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि यदि कोई उत्तर भारत के गांवों का जायजा लेना चाहे तो प्रेमचन्द से अच्छा दूसरा परिचायक नहीं मिलेगा । जहां यह बात सही है , वहां यह भी सही है कि यदि कोई प्रेमचन्द के समय की राजनीतिक गतिविधियों को देखना चाहे तो उसका भी उतना ही सत्य अधिकारपूर्ण चित्र प्रेमचन्द के साहित्य में मिल सकता है ।

[ख] भारत की सामान्य गरीब जनता में विश्वास :

प्रेमचन्दजी को अपने देश की सामान्य , गरीब , अपढ़ जनता के प्रति अगाध प्रेम था । उनको वे मूर्ख नहीं समझते थे । उनकी न्याय-बुद्धि पर उन्हें विश्वास था । वे स्वयं भी उन्हीं की तरह रहते थे । तभी तो जैनेन्द्रजी को बड़ा आश्चर्य हुआ था , जब वे पहली बार उनसे मिले थे । पटनावाले प्रसंग में भी यही होता है । वस्तुतः प्रेमचन्दजी सामान्य जनता के लेखक थे । वे सचमुच में जनसाधारण के सुख और स्वराज्य की कल्पना करते थे । भारत के आम पढ़े-लिखे लोगों की तरह वे देहातियों को वज्र-मूर्ख नहीं समझते थे , बल्कि उन लोगों से उनके चरित्र को वे काफी ऊंचा समझते थे । उनकी न्याय-बुद्धि की

से अधिक प्रभावित करते थे । "पंचायत" , "पंचपरमेश्वर" , "सुभागी" आदि कहानियों में हम इसका परीक्षण कर सकते हैं । "मंत्र" कहानी तो इन अशिक्षितों की शिक्षा और शिक्षितों की अशिक्षा को व्यंग्य के साथ रेखांकित करनेवाली कहानी है । "प्रेम का त्याग" कहानी में वे लिखते हैं — "जनता के फैसले साक्षी नहीं खोजते । अनुमान ही उसके लिए सबसे बड़ी गवाही है ।" 73 यही कारण है कि न्याय-अन्याय के मामले में जन-सम्मति को वे अंतिम अधिकार देते हैं । "राजा हरदौल" कहानी का यही सार-तत्त्व है । इस कहानी में बादशाह जुझार को दक्षिण का शासन-भार सौंपते हैं , तब ओरछा से जाते समय जुझार अपने छोटे भाई हरदौल को जो शिक्षा-वचन कहते हैं , वह ध्यान देने योग्य है । यथा —

"भैया , मैं तो जाता हूँ । अब यह राजपाट तुम्हारे सुपुर्द है । तुम भी इसे जी से प्यार करना । न्याय ही राजा का सबसे बड़ा सहायक है । न्याय की गढ़ी में कोई शत्रु नहीं घुस सकता , चाहे वह रावण की सेना और इन्द्र का बल लेकर ही आए । पर न्याय वही सच्चा है , जिसे प्रजा भी न्याय समझे । तुम्हारा काम केवल न्याय ही करना न होगा, बल्कि प्रजा को अपने न्याय का विश्वास भी दिलाना होगा ।" 74

प्रेमचन्द को अपने ये ठेठ देसी लोग और उनका ठेठपना अत्यंत प्रिय था । एक बार वे अपनी पत्नी शिवरानी देवी के साथ ट्रेन में यात्रा कर रहे थे । अचानक उनके डिब्बे में बहुत-से किसान घुस आये , जो कहीं यात्रा पर गए थे और देवी-दर्शन करके लौट रहे थे । उन्हें देखकर शिवरानी जी नाक-भौं सिकोड़ने लगीं तो प्रेमचन्दजी तपाक से बोल उठे — "इन्हीं के लिए तो जेल जाती हो , इन्हीं के लिए स्वराज चाहती हो , फिर इनसे घृणा क्यों ?" 75

"रंगभूमि" का क्लार्क भी यही कहता है कि अंग्रेज सरकार को भय महेन्द्रसिंह जैसे सफेदपोश नेताओं से नहीं बल्कि सूरदास जैसे लोगों से है । [illegible] जैसे लोग , देवीदीन जैसे लोग आजादी के पक्ष में [illegible] सारी आशा-[illegible] [illegible] होती-सी दिखी थी ।

(ग) गांधीवाद में श्रद्धा से क्रमशः अश्रद्धा की ओर :

प्रेमचन्दजी की राजनीतिक समझदारी को व्याख्यायित करते हुए हमें कतिपय मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा । उन्हें गांधीवाद, सत्य, अहिंसा, असहयोग, हृदय-परिवर्तन का सिद्धान्त आदि में विश्वास था । परन्तु बाद में धीरे-धीरे वे वस्तुवादी होते जा रहे थे । आदर्शवाद से यथार्थवाद पर जा रहे थे । सुधारवादी दृष्टिकोण से उनका ध्यान हट रहा था । "गोदान" और "मंगलसूत्र" में तो वे पूर्णतया यथार्थवादी हो गए हैं । प्रारंभ के उनके सुधारवादी उपन्यास तथा कहानियों में वे गांधीवाद के प्रवक्ता-से लगते हैं । "सेवासदन", "प्रेमाश्रम", "रंगभूमि" आदि उपन्यासों में हमें गांधीवादी सुधारवाद मिलता है । परंतु "निर्मला", "गोदान", "मंगलसूत्र" आदि उपन्यास तथा "कफ़न", "पूस की रात", "ठाकुर का कुआं", "शतरंज के खिलाड़ी" जैसी कहानियों में हमें उनका परिपक्व वस्तुवादी दृष्टिकोण साफ नज़र आता है ।

सन् 1930 में गांधीजी के नमक सत्याग्रह और सविनय भंग का प्रेमचन्दजी ने दिल खोलकर स्वागत किया था । "समर यात्रा" पुस्तक उन दिनों की है । उनकी पत्नी शिवरानीदेवी जेल भी उन्हीं दिनों में गई थीं । परंतु गांधी-इरविन पैक्ट से प्रेमचन्दजी की आस्था को बहुत बड़ी ठेस पहुंची और गांधीजी के अहिंसा-व्रत से उनकी आस्था प्रायः उठ-सी गई । "कातिल" कहानी का नायक धर्मवीर अपनी मां से कहता है —

"मुझे आशा नहीं कि पिकेटिंगों और जुलूसों से हमें आज़ादी प्राप्त हो सकेगी । यह अपनी कमजोरी और मजबूरी का खुला ऐलान है । झंडियां निकालकर और गीत गाकर देश आजाद नहीं हुआ करते । मुझे तो यह सब कुछ बच्चों का सा खेल मालूम होता है । लड़कों को रोने-धोने से मिठाइयां मिल जाती हैं, वही इन लोगों को मिल जायेगी । असली आज़ादी तभी मिलेगी जब हम उसका मूल्य चुकाने को तैयार होंगे ।" [76]

कुछ-कुछ इस प्रकार की बात उन्होंने अपने मद्रास प्रवास के दौरान दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के एक भाषण में 29 दिसम्बर सन् 1934 में की थी — " अंग्रेजी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें, लेकिन आपकी आवाज़ में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी परवाह भी न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है । बच्चों को रोने पर खिलौने और मिठाइयां मिलती हैं । यह शायद आपको भी मिल जाय, जिससे आपको चिल्ल-पों से माता-पिता के काम में विघ्न न पड़े । " 77

शनैः शनैः अहिंसा, सत्याग्रह आदि से उनका विश्वास उठता जा रहा था । अपने अधिकारों के लिए लड़ती जनता का बड़ा ही सजीव चित्र उन्होंने "जुलूस" कहानी में आलेखित किया है — " वह लोग जो दस मिनट पहले तमाशा देख रहे थे, इधर-उधर से दौड़ पड़े और हजारों आदमियों का एक विराट् दल घटना-स्थल की ओर चला । यह उन्मत्त, हिंसा-मद से भरे हुए मनुष्यों का समूह था, जिसे सिद्धान्त और आदर्श की परवाह न थी । जो मरने के लिए नहीं, मारने के लिए भी तैयार थे । कितने ही हाथों में लाठियां थीं, कितने ही जेबों में पत्थर भरे हुए थे । न कोई किसी से बोलता था, न पूछता था । बस सब-के-सब मन में एक दृढ़ संकल्प लिए लपके चले जा रहे थे, मानो कोई घटा उमड़ी चली आती हो । ... शांति और अहिंसा के व्रतधारियों पर डंडे बरसाना और बात थी, एक उन्मत्त दल से मुकाबिला करना दूसरी बात, सवार और सिपाही पीछे खिसक गए । " 78

उसी प्रकार "जेल" कहानी में पुलिस भीड़ पर गोली चला रही है, लोग चुपचाप बैठे देख रहे हैं, लेकिन एक बुढ़िया के गिरते ही उनसे न रहा गया और वे पागलों की तरह सिपाहियों पर टूट पड़े — "उनके गिरते ही योद्धाओं का धैर्य टूट गया, व्रत का बंधन टूट गया । सभी के सिरों पर खून-सा सवार हो गया । निहत्थे थे, xxxx अशक्त थे, पर हर एक अपने अंदर अपार शक्ति का अनुभव कर रहा था । पुलिस पर

धावा कर दिया । सिपाहियों ने इस बाढ़ को आते देखा तो होश जाते रहे । जानें लेकर भागे । " 79

"रंगभूमि" में वीरपालसिंह के चरित्र का आलेखन , होरी तथा सूरदास , दोनों आदर्शवादी पात्रों की अंतिम परिणति प्रभृति से यही सिद्ध होता है इस सहस्त्रशोषी सामाजिक व्यवस्था [या अव्यवस्था ?] के प्रति उनमें विद्रोह का भाव क्षण-क्षण बलवत्तर हो रहा था । "कर्मभूमि" का अमरकान्त भी आखिर कहता है कि रूढ़ियों और मर्यादाओं का दास बनकर वह नहीं रहना चाहता । "मंगलसूत्र" में तो मानो उनके धैर्य की सीमा आ जाती है और क्षोभ एवं ग्लानि से भरा हुआ उनका मन मानो धिक्कार कर उठता है — "देवता हमेशा रहेंगे और हमेशा रहे हैं । उन्हें संसार अब भी धर्म और नीति पर चलता हुआ नज़र आता है । ... देवताओं ने ही भाग्य , ईश्वर और भक्ति की मिथ्या धारणाएं फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है । मनुष्य ने अब तक इसका अन्त कर दिया होता या समाज का ही अन्त कर दिया होता जो इस दशा में ज़िन्दा रहने से कहीं अच्छा है । " 80

[घ] गांधीवादी नेताओं से मोहभंग :

गांधीजी के कुछ विचारों से बाद में असहमत होते हुए भी महात्मा गांधी के प्रति प्रेमचन्द में पर्याप्त श्रद्धा थी । वे उनको श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे । विरोध तो सुभाष और गांधी में भी था , परंतु सुभाष बाबू फिर भी गांधी जी को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे । परंतु एक बात निश्चित है कि गांधीवादी नेताओं से उनका पूरी तरह से मोहभंग हो चुका था । "गोदान" के रायसाहब तो इसके जीते-जागते उदाहरण हैं । वे कांग्रेसी -गांधीवादी जमींदार हैं । पिछले सत्याग्रह में जेल भी हो आये हैं , पर इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी जमींदारी में किसानों के साथ कोई विशेष रियायत बरती जाती हो । सारी सख्ती , जोरी-जुल्म , मुख्तारों एवं कारिन्दों के सिर मढ़ दी जाती है । रायसाहब सुर्खरू बने रहते हैं । उनकी गांधी-

खादी कीर्ति पर कोई आँच नहीं आती । प्रेमचन्द ने इस वर्ग के दोगलेपन को भलीभांति समझ लिया था । वे दूध और दही दोनों में पैर रखते थे । "राय-साहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेलजोल बनाए रखते थे । उनकी नज़रें और डालियाँ और कर्मचारियों की दस्तूरियाँ जैसी की तैसी चली आती थीं ।" 8।

प्रेमचन्दजी इन राजा-महाराजाओं, जमींदारों, रायसाहबों एवं राय बहादुरों को भलीभांति समझने लगे थे । विट्ठलदास, पद्मसिंह, प्रेमशंकर, विनय, महेन्द्रसिंह, राजा भरतसिंह, रायसाहब आदि लोगों की फितरत प्रेमचन्द के साहित्य में धीरे-धीरे प्रकट होती गई है और इन लोगों के प्रति इनका मोहभंग होता गया है ।

(घ) हिन्दू-मुस्लिम समस्या :

प्रेमचन्द को हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भी समाज में बहुत संघर्ष करना पड़ा है । इसके लिए उन्हें हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों के ताने सुनने पड़े हैं । वस्तुतः हिन्दू-मुस्लिम की समस्या सामाजिक भी है और राजनीतिक भी । अतः उसकी विस्तृत चर्चा सामाजिक संघर्ष के अन्तर्गत हुई है । यहाँ केवल इतना जोड़ दें प्रेमचन्द की प्रगतिवादी-यथार्थवादी दृष्टि ने यह बराबर देख लिया था कि इस देश का समुचित विकास इन दोनों कौमों के मिल-जुलकर रहने में ही है । अंग्रेजों ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए इनमें दरार डालने का काम किया, परंतु हमारे नेताओं को तो समझना चाहिए । किंतु नासमझी बढ़ती गई । जिसका परिणाम बाद में देश के विभाजन के रूप में हमने देखा । और अभी भी यह समस्या ज्यों की त्यों है । अतः इस दृष्टि से आज भी कबीर, प्रेमचन्द और रसखान जैसे लोगों की आवश्यकता है । वस्तुतः हमारे यहाँ का, और यहाँ का नहीं पाकिस्तान का भी, मुसलमान प्रतिक्रियावादी होता है । क्रिया स्वस्थ होती है, प्रतिक्रिया अस्वस्थ । प्रेमचन्द ने अपने समग्र साहित्य में इन दोनों के प्रति एक स्वस्थ और निरपेक्ष-तटस्थ रवैया अपनाया है ।

समग्र अध्याय के विहंगावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक पहुँच सकते हैं :—

§1§ सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक या सैद्धान्तिक संघर्ष मूलतः वैचारिक होता है। वैचारिकता के विकसित होने पर ही उसका प्रकृत स्वरूप निर्धारित होता है।

§2§ हिन्दी उपन्यास में प्रारंभ से ही प्रायः दो धाराएँ समानान्तरतः लक्षित होती हैं — एक तो नवसुधारवादी और दूसरी परंपरावादी या यथास्थितिवादवादी। प्रेमचन्दजी प्रथम परंपरा के अग्रणी लेखक हैं।

§3§ प्रेमचन्द ने जीवनभर अपने समय की सामाजिक-व्यवस्था में व्याप्त शोषणोन्मुखी रूढ़ियों, परंपराओं और रीति-रिवाजों का विरोध किया है।

§4§ जहाँ तक सामाजिक संघर्ष का सवाल है नारी-शिक्षा, दहेजप्रथा, विधवा-विवाह, अनमेल-विवाह, जातिवाद, अस्पृश्यता की समस्या, हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या, धर्म के नाम पर हो रहा अत्याचार जैसे मुद्दों को लेकर लेखक ने प्रगतिवादी चिंतन का परिचय दिया है। उनके सभी उपन्यासों एवं कहानियों में उक्त मुद्दों की चर्चा किसी-न-किसी रूप में हुई है।

§5§ प्रेमचन्द का समग्र लेखन सामाजिक दायित्व तथा उससे सम्बद्ध सोद्देश्यता को लेकर चला है। अतः अपने समय की राजनीतिक गतिविधियों से प्रेमचन्द न केवल परिचित थे, बल्कि उनके पास तद्विषयक गंभीर चिंतन भी है, अतः उसके दिशा निर्धारण में भी उनका योग है। प्रेमचन्द प्रारंभ से ही विदेशी सत्ता के विरोधी रहे हैं। अतः उन्हें अँग्रेज-सरकार का कोपभाजन भी होना पड़ा। "हंस" के लिए कई बार उन्हें जमानत भी भरनी पड़ी है।

§6§ प्रेमचन्द की राजनीतिक समझ क्रमशः विकसित होती गई है। आर्यसमाज, गांधीवाद से होती हुई वह मार्क्सवाद तक गई है। आखिर-आखिर में गांधीवादी नेताओं से उनका मोहभंग हो गया था।

=x=

:: संदर्भिका ::

§1§ साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा. पारुकान्त देसाई : भूमिका से : पृ. 5 ।

§2§ वही, डा. पी.एन. प्रभु : हिन्दू सोशियल आर्गेनाइजेशन : पी. 258 ।

§3§ द फिलासफी आफ इण्डोलोजिकल हेरिटेज : डा. उमा देशपांडे : पृ. 1-5 ।

§4§ डा. ए.एस. अल्तेकर : द पोजिशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन: पृ. 342-343 ।

§5§ द्रष्टव्य : भारतीय समाज तथा संस्कृति : डा. गुप्ता एवं डा. शर्मा : पृ. 359 ।

§6§ द्रष्टव्य : मानसरोवर भा-2 : पृ. 23-25 ।

§7§ द्रष्टव्य : संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 83 ।

§8§ प्रेमचन्द घर में : शिवरानी देवी : पृ. 103 ।

§9§ यह घटना अखबारों में खूब चर्चित हुई थी ।

§10§ औरत होने की सज़ा : अरविंद जैन : पृ. 30 ।

§11§ द्रष्टव्य : सेवासदन : पृ. 15 §12§ वही : पृ. 16 ।

§13§ द्रष्टव्य : "हिन्दी उपन्यास : प्रेमचन्दोत्तरकाल" : डा. रामशोभित प्रसाद सिंह : पृ. 60 ।

§14§ गुजराती के कवि न्हानालाल की मान्यता ।

§15§ मानसरोवर भा-1 : पृ. 13-14 ।

§16§ द्रष्टव्य : भारतीय समाज तथा संस्कृति : पृ. 359 ।

§17§ मानसरोवर भा-1 : पृ. 224 §18§ वही : पृ. 227 ।

§19§ रतिनाथ की चाची : नागार्जुन : पृ. 23 ।

§20§ मानसरोवर भा-1 : पृ. 69 §21§ वही : पृ. 85 ।

§22§ वही : पृ. 85 §23§ वही : पृ. 83 ।

§24§ प्रेमचन्द घर में : पृ. 162 । §25§ वही : पृ. 163 ।

§26§ द्रष्टव्य : गोदान : पृ. 360 ।

§27§ "प्रेमचन्द : व्यक्ति और साहित्यकार" : पृ. 333 ।

§28§ निर्मला : पृ. 148 ।

§29§ कलम का सिपाही : पृ. 66 ।

§30§ भारतीय समाज तथा संस्कृति : पृ. 134 ।

§31§ भारतीय समाज तथा सामाजिक संस्थाएँ : डा. आर. एन. सक्सेना:पृ45 ।

§32§ गोदान : पृ. 189 ।

§33§ हिस्टरी आफ ह्युमन मैरेज : ई. ए. वेस्टरमार्क : पृ. 59 ।

§34§ मानसरोवर भा-8 : पृ. 14 ।

§35§ संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 321 ।

§36§ वही : पृ. 321 §37§ मानसरोवर भा-4 : पृ. 19 ।

§38§ वही : पृ. 22 §39§ वही : पृ. 168 ।

§40§ कलम का सिपाही : पृ. 530 §41§ वही : पृ. 43-44 ।

§42§ द्रष्टव्य : भारतीय समाज तथा संस्कृति : पृ. 138 ।

§43§ ठाकुर का कुआँ : पृ. 15-16 §44§ वही : पृ. 29 ।

§45§ वही : पृ. 8 । §46§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 13 ।

§47§ वही : पृ. 44-45 §48§ गोदान : पृ. 253 ।

§49§ समय चेतना : पत्रिका : जून-1995 : पृ. 62 ।

§50§ द्रष्टव्य : वही : पृ. 62-63 §51§ कुछ विचार : पृ. 89 ।

§52§ सेवासदन : पृ. 128 §53§ वही : पृ. 126 ।

§54§ "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व " : डा. हंसराज रहबर

पृ. 263 ।

§55§ वही : पृ. 263 ।

§56§ कुछ विचार : पृ. 108-109 ।

§57§ "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व " : पृ. 263 ।

§58§ वही : पृ. 263 ।

§59§ "हिन्दी गजल : उद्भव और विकास " : डा. रोहिताश्व अस्थाना :

पृ. 111 ।

§60§ "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व " : पृ. 260 ।

§61§ साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : भूमिका से : पृ. 5 ।

§62§ "साहित्य-सिद्धि ?" § म. स. वि. वि के कला-संकाय की एक साहित्यिक गोष्ठी § में 30-4-96 को पढ़ा गया आलेख :

डा. पारुकांत देसाई : पृ. 2 ।

(63) हंस : संपादकीय : राजेन्द्र यादव : जून-1995 ।

(64) लाईफ एण्ड वर्क आफ प्रेमचन्द : मनोहर बंदोपाध्याय : पृ. 24 ।

(65) प्रेमाश्रम : पृ. 34 (66) मानसमाला : डा. पारूकांत : पृ. 41 ।

(67) "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व " : पृ. 267 ।

(68) राग दरबारी : श्रीलाल शुक्ल : पृ. 250 ।

(69) "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व :" पृ. 268 ।

(70) मानसरोवर भा-1 : पृ. 55 ।

(71) द्रष्टव्य : प्रेमचन्द घर में : पृ. 127-133 ।

(72) रंगभूमि : पृ. 538 ।

(73) गबन : पृ. 152 x(84)xx

(73-ए) "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व " : पृ. 267 ।

(74) मानसरोवर भा-6 : पृ. 12 ।

(75) "प्रेमचन्द : जीवन , कला और कृतित्व " : पृ. 267 ।

(76) वही : पृ. 271 ।

(77) कुछ विचार : पृ. 103 ।

(78) मानसरोवर भा-7 : पृ. 53 ।

(79) वही : पृ. 13 ।

(80) मंगलसूत्र तथा अन्य रचनाएं : पृ. 231 ।

(81) गोदान : पृ. 16 ।

======= xxxxxxxx =======